गुरुदत्त लेखावली

अर्थात्

मुनिवर

श्री पं० गुरुदत्तजी विद्यार्थी एम०ए०

के

लेखों का आर्य्यभाषानुवाद

जो

(आज तक आर्य्यभाषा में अप्रकाशित रहे हैं)

अनुवादक

पं० सन्तराम बी०ए०—पं० भगवद्दत्त बी०ए०

प्रकाशक

राजपाल—प्रबन्धकर्त्ता,

आर्य्यपुस्तकालय व सरस्वती आश्रम लाहौर।

नवम्बर १.९१८—मार्गशीर्ष १.९७५.

दयानन्दाब्द ३६।

पंजाब प्रिंटिंग वर्क्स, लाहौर में पं० चरणदास बी. ए. के प्रबन्ध से टाइटल व

पृष्ठ २६७ से ३१६ तक छपा। शेष बाम्बे प्रेस लाहौर मे छपा।

मूल्य २)

ओ३म

उपोद्घात।

आर्यसमाज के विद्वानों में, ऋषि दयानन्द के पश्चात्, मुनिवर गुरुदत्त का स्थान सब से ऊंचा है। आर्यसमाज ही क्या, अपने समय में सारा शिक्षित पञ्जाब उन्हें विद्वच्छिरोमणि मानता था। उनके पाण्डित्य, उनके आचार, और उनकी तितक्षा को सभी धर्मों के अनुयायी आदर की दृष्टि से देखते थे। वैदिक धर्म्म के यथार्थ स्वरूप को जैसा गुरुदत्त ने समझा था वैसा दयानन्द के पश्चात् और किसी ने नहीं समझा। वैदिक धर्म्म की जैसी विस्तृत और विद्वत्तापूर्ण मीमांसा गुरुदत्त के लेखों में मिलती है वैसी किसी दूसरे आर्य्य सामाजिक पण्डित के लेखों में नहीं मिलती। गुरुदत्त ने अपने आचार्य, ऋषि दयानन्द, के भाव को खूब समझा था और उसे अपनी आत्मा के अन्दर धारण किया था। जिस दृष्टि से वेदों को दयानन्द देखते थे गुरुदत्त भी ठीक उसी दृष्टि से उन्हें देखते थे। यह बात उनकी की हुई वैदिक मंत्रों और उपनिषदों की व्याख्या से स्पष्ट सिद्ध होती है। पुराने ढर्रे के पण्डित आर्यसमाज में आने को तो अनेक आए पर उन में से अधिकांश पौराणिक संस्कारों को छोड़ नहीं सके। बाहर से आर्यसमाज के प्रवर्तक पर अगाध श्रद्धा दिखलाते हुए भी व्यवहार में वे अश्रद्धा का ही प्रकाश करते हैं। उनके किए हुए आर्ष ग्रन्थों के अनुवाद दयानन्द की शैली और भाव के प्रतिकूल देखने में आते हैं। गुरुदत्त के ग्रन्थ इस दृष्टि से अद्वितीय हैं। उनके अन्दर दयानन्द का भाव कूट कूट कर भरा पड़ा है। जहां कहीं भी उन्हें किसी शब्द के अर्थों के विषय में भ्रांति फैलने की आशङ्का प्रतीत हुई है वहां उन्हों ने उसे भली भांति स्पष्ट कर दिया है जिस से वह आशङ्का सर्वथा दूर होगई है। उदाहरणार्थ, देखिए मुण्डकोपनिषद् के 'ब्रह्मा देवानां प्रथमः संबभूव विश्वस्य कर्त्ता भुवनस्य गोप्ता" का अर्थ जहां दूसरे पण्डितों ने "देवताओं के मध्य में ब्रह्मा पहले प्रकट हुआ. जो विश्व का कर्त्ता और भुवन का रक्षक है" किया है वहां पण्डित गुरुदत्त ने इसका अर्थ "विद्वानों में सब से पहला विद्वान् ब्रह्मा था जोकि प्रकृति के भौतिक नियमों का पूर्ण ज्ञाता और निपुण शिल्पी था," करके इस की पौराणिक गंध को सर्वथा दूर कर दिया है। इसी प्रकार मुण्डक १, खं० २, मं० १२ का अर्थ आर्य-समाजी पण्डितों ने "कर्मों से जो लोक लाभ किए जाते हैं उनकी परीक्षा करके ब्राह्मण को चाहिए कि वैराग्य को प्राप्त हो" किया है। पर पं० गुरुदत्त इसका अर्थ इस प्रकार करते हैं—"यह देखकर कि संसार के सारे उपभोग कर्म्मों का फल हैं, और कि केवल कर्म्मों से ही ब्रह्म-ज्ञान की प्राप्ति नहीं होती,

विद्वान् पुरुष को चाहिए कि संसार के मोह को छोड़ दे"। पाठक देखिए पं० गुरुदत्त का किया अर्थ कैसा स्पष्ट और ऋषि दयानन्द की शैली के अनुकूल है। इस में देवता, ब्राह्मण, लोक आदि शब्दों को कैसा खोलकर समझाया गया है। इस से यह न समझ लीजिए कि पण्डित जी ने अपने पक्ष की पुष्टि के लिए मनमाने अर्थ कर डाले हैं। नहीं, उन्हों ने अपने पक्ष को ऐसे अखण्डनीय प्रमाणों से सिद्ध किया है कि विपक्षियों को "किन्तु"—"परन्तु" का कोई स्थान नहीं रहा।

यह संसार सत्य के आश्रय स्थित है। सत्य ही मनुष्य का परम धर्म्म है। इसी सत्य-रूपी धर्म्म का जानना ही सच्चा धर्म्म-ज्ञान है और इसके अनुकूल आचरण करना ही सच्चा धर्म्माचरण है। संसार में जितनी धर्म्म की वृद्धि होती है उतनी ही सुख की मात्रा बढ़ती है। अधर्म्म का फल दुःख के सिवा और कुछ नहीं। इसलिए धर्म्माधर्म्म का विवेक मनुष्य के लिए परम कर्तव्य है। नर-देह पाकर स्वधर्म्म सत्य धर्म्म को पहचानने में अवहेलना करना बड़ा ही हानिकारक है। इस युग में जिन झगड़ों और उपद्रवों के लिए धर्म्म कलङ्कित होरहा है वे वस्तुतः अविद्या का फल हैं। धर्म्म से उनका कोई सम्बन्ध नहीं, क्योंकि धर्म्म का फल कभी दुःख नहीं होसकता। अविद्या से जिस वस्तु को पराई लोग धर्म्म समझकर लड़ते झगड़ते हैं वह वस्तुतः धर्म्म नहीं, अधर्म्म है। इन लड़ाई झगड़ों की समाप्ति तभी होसकती है जब लोगों को सत्य-धर्म्म का ठीक ठीक ज्ञान हो। इसलिए सत्य धर्म्म का प्रचार करना संसार में बड़ा भारी पुण्य है। पण्डित गुरुदत्त ने इस धर्म्म-तत्त्व को भली भांति अनुभव किया था। वे जनता के अविद्यान्धकार को ज्ञान के प्रकाश द्वारा दूर करने को भारी परोपकार समझते थे। आत्मिक शान्ति उनके लिए भौतिक शान्ति से कहीं बढ़कर थी। अपनी आध्यात्मिक शान्ति के लिए उन्हों ने संसार के प्रायः सभी बड़े बड़े धर्म्म-प्रचारकों के ग्रन्थों का अध्ययन किया था। संस्कृत और अङ्गरेज़ी में तो उनकी योग्यता अद्वितीय थी ही पर दर्शन शास्त्र और पदार्थ विज्ञान के भी वे पारदर्शी पण्डित थे। विज्ञान का कदाचित् ही कोई ऐसा विषय होगा जिस का उन्हों ने अध्ययन न किया हो। फारसी और अरबी के भी उन्हों ने अनेक उच्च कोटि के ग्रन्थ पढ़े थे। अनेक दिन वे नास्तिक भी रहे थे। पर अन्त को चिरकालिक चिन्तन और ऋषि दयानन्द के आध्यात्मिक प्रसाद से उनकी नास्तिकता दूर होकर उन्हें सत्य धर्म्म का यथार्थ ज्ञान प्राप्त हुआ था। उसी समय उन्हों ने पूर्ण आत्मिक शान्ति लाभ की थी। जिस अमूल्य अमृत रस को उन्हों ने इतने यत्न से प्राप्त किया था उसका पान वे अपने अन्य भाइयों को भी कराना चाहते थे। पण्डित गुरुदत्त ने इस बात का भली

भांति अनुभव कर लिया था, और उन्हें यह पूर्ण निश्चय होचुका था कि एक वेद-प्रतिपादित धर्म्म ही सच्चा नैसर्गिक धर्म्म है, वही नारायण का नर के प्रति उपदेश है। इसीलिए वे वेदों पर किसी भी प्रकार का आक्षेप देखकर चुप न रह सकते थे।

पण्डित गुरुदत्त के समय में वेदों पर चारों ओर से विपक्षियों के आक्रमण हो रहे थे। पुराने पण्डित उन आक्रमणों का कुछ उत्तर न दे सकते थे। इससे आर्य सन्तान वेदों से विमुख होकर धड़ाधड़ ईसाई मत को ग्रहण कर रही थी। इसमें कोई सन्देह नहीं कि ऋषि दयानन्द ने वैदिक धर्म्म की इस डूबती हुई नौका को अपने पावन उपदेशों के बल से थाम लिया था और सर्व साधारण की वैदिक धर्म्म पर पुनः श्रद्धा होने लगी थी, पर मेक्समूलर, मोनियर विलियम्स, और टी० विलियम्स ऐसे ईसाई पादरी वेदों के विरुद्ध अपना विष अंगरेज़ी भाषा द्वारा फैलाते थे। इससे अंगरेज़ी पढ़े युवकों का विश्वास वेदों पर से हिल रहा था। उनके फैलाए विष को दूर करने के लिए अंगरेज़ी में ही उनकी आपत्तियों का खण्डन करना परमावश्यक था। उस समय पण्डित गुरुदत्त के सिवा और कोई योग्य व्यक्ति ऐसा न था जो इस कठिन कार्य को कर सकता। इसलिए उन्होंने ही इस काम का बीड़ा उठाया और विपक्षियों के आक्षेपों का ऐसा मुंह तोड़ उत्तर दिया कि उन्हें फिर बोलने का साहस नहीं हुआ। पण्डितजी ने केवल पादड़ियों के वेदों पर किए आक्षेपों का ही उत्तर नहीं दिया, उन्होंने उनको शुद्ध वेदार्थ-शैली भी बताई है। उपनिषदों और वेद मंत्रों के शुद्ध अर्थ करके उनकी भूलें दिखलाई हैं। पण्डितजी ने अपने लेखों में वैदिक धर्म्म का जो स्वरूप दिखलाया है वह बड़ा ही उत्कृष्ट है। वेदों का कट्टर से कट्टर विरोधी भी उसे देखकर मोहित हुए विना नहीं रह सकता। सत्य धर्म्म के अभिलाषियों के लिए उनके लेखों का पाठ अत्यन्त हितकर सिद्ध होगा।

प्रस्तुत ग्रन्थ में पण्डितजी के निम्नलिखित लेखों का भाषान्तर दिया गया है—

(१) The Terminology of the Veda. वैदिक संज्ञा-विज्ञान।

(२) The Terminology of the Vedas and European Scholars. वैदिक संज्ञा-विज्ञान और योरुपीय विद्वान्।

(३) Criticism on Monier William's "Indian Wisdom." अध्यापक मोनियर विलियम्स की "इण्डियन विज़डम" नामक पुस्तक की आलोचना।

(४) Evidences of the Human Spirit. जीवात्मा के अस्तित्व के प्रमाण।

(५) ईशोपनिषद्।

(६) माण्डूक्योपनिषद्।

(७) मुण्डकोपनिषद् ।

(८) Vedic Texts No. 1. The Atmosphere. वेद-वाक्य नं० १: वायु मण्डल ।

No. 2. Composition af Water. वेद-वाक्य नं० २. जल की रचना ।

No. 3. Grihastha. वेद वाक्य नं० ३. गृहस्थ ।

(९) The Realities of Inner life. आध्यात्मिक जीवन के तत्त्व ।

(१०) Pecunomania. धन का डाह ।

(११) A Reply to Mr. T. William's Letter on "Idolatry in the Vedas." "वेदों में मूर्ति-पूजन" पर टी० विलियम्स साहब के पत्र का उत्तर ।

(१२) A Reply to Mr. T. William's Criticism on Niyoga. टी० विलियम्स साहब की नियोग पर दोषालोचना का उत्तर ।

(१३) Mr.T. Williams on Vedic Text No. 1, "The Atmosphere." वेद-वाक्य नं० १ पर टी० विलियम्स साहब की दोषालोचना ।

(१४) Mr. Pincott on the Vedas. वेदों पर पिनकाट साहब की सम्मति ।

अब इन लेखों के विषयों को भी, संक्षेप मे सुन, लीजिए:—

१—२. वैदिक संज्ञा-विज्ञान,—और वैदिक संज्ञा-विज्ञान तथा योरुपीय विद्वान्—इन दो लेखों में बताया गया है कि हरिवर्षीय विद्वान् किन कारणों से वेद-मंत्रों का ठीक अर्थ नहीं कर सकते या नहीं करते । इस के अतिरिक्त इन में वेदार्थ की शुद्ध आर्ष शैली बताने के उपरान्त मोनियर विलियम्स और मोक्षमूलर आदि हरिवर्षीय पण्डितों के मंत्रार्थ की अशुद्धियाँ भी दिखलाई गई हैं । वेद के विद्यार्थियों के लिए ये दोनों लेख बड़े ही उपयोगी और सहायक हैं ।

३. अध्यापक मोनियर विलियम्स की 'इण्डियन विज़डम' नामक पुस्तक की आलोचना—मोनियर विलियम्स साहब ने इण्डियन विज़डम नामक पुस्तक में वैदिक धर्म्म में बहुत से दोष और त्रुटियाँ दिखलाई थीं । साथ ही उन्हों ने वैदिक धर्म्म की ईसाई धर्म्म के साथ तुलना कर के ईसाई धर्म्म को सर्वश्रेष्ठ सिद्ध करने का यत्न किया था । पण्डित जी ने अपने इस लेख में मोनियर विलियम्स के लगाये दोषों का युक्ति और प्रमाण से खूब ही खण्डन किया है और सिद्ध किया है कि वैदिक धर्म्म एक सर्वाङ्गपूर्ण और सर्वश्रेष्ठ धर्म्म है । इस में कोई भी त्रुटि और दोष नहीं । पण्डित जी की यह आलोचना सभी धर्म्म-पण्डितों के पढ़ने योग्य है ।

४. जीवात्मा के अस्तित्व के प्रमाण—इस लेख में अनात्मवादियों की उन युक्तियों का खण्डन है जो वे आत्मा के अस्तित्व से इनकार करते हुए दिया करते हैं। इस में आत्मा के अस्तित्व को वैज्ञानिक रीति से प्रमाणित किया गया है और जड़वाद की खूब धज्जियां उड़ाई गई हैं।

५. ६. ७. ईशोपनिषद्, माण्डूक्योपनिषद्, और मुण्डकोपनिषद् के मंत्रों के जो अर्थ और उनकी जो व्याख्या उन्हों ने की है वह बड़ी ही उत्कृष्ट, सारगर्भित, और प्रकृत है। जिन वैज्ञानिक बातों को पुराने पण्डित, पदार्थ विज्ञान न जानने के कारण, समझ नहीं सकते और अनुवाद में मक्खी पर मक्खी मार देते हैं वे पण्डित जी के अनुवाद में भली भाँति स्पष्ट हो गई हैं। उदाहरणार्थ मुण्डकोपनिषद् (मुण्डक १, खं० २, मं० ४) में जो अग्नि की सप्त जिह्वा कही हैं उनका अर्थ और पण्डित केवल सात जिह्वा ही करके सन्तुष्ट हो गए हैं। ये सात जिह्वा क्या हैं इसे स्पष्ट करने की उन्हों ने कृपा नहीं की। पर पण्डित गुरुदत्त ने अग्नि की सप्त जिह्वा का अर्थ "Seven Zones of burning flame. (जलती हुई अग्नि-शिखा के सात मंडल)" करके मंत्र को युक्तिसंगत सिद्ध कर दिया है। क्योंकि अग्नि-शिखा के मण्डलों को तो स्कूलों में साइन्स पढ़ने वाले विद्यार्थी भी जानते हैं पर आग की जीभ आज तक किसी ने नहीं देखी। इसी प्रकार की और भी अनेक विशेषताएँ पाठकों को इन उपनिषदों के भाष्यों में मिलेंगी।

८. (क) वेद-वाक्य नं० १, "वायुमण्डल" में उन्हों ने ऋग्वेद के दूसरे सूक्त के पहले मंत्र के प्रमाण और 'वायु' शब्द की व्युत्पत्ति से यह सिद्ध किया है कि आधुनिक विज्ञान ने जो पवन को एक "हलका, गतिशील, थरथराहटों को दूसरों तक पहुँचाने वाला, और गँधों को एक स्थान से दूसरे स्थान तक लेजाने वाला माध्यम" सिद्ध किया है, उस के इन सब विशेष गुणों को वैदिक शब्द 'वायु' भली भाँति प्रकट कर रहा है। अँगरेज़ी शब्द 'विण्ड' इन गुणों को बिलकुल नहीं दर्शाता।

(ख) वेद-वाक्य नं० १, "जल की रचना", में ऋग्वेद सूक्त २, मं० ७ की व्याख्या की गई है, और दिखाया गया है कि इस मंत्र में यह स्पष्ट लिखा है कि पानी आक्सीजन और हाईड्रोजन नामक दो गैसों के मिलने से बनता है।

(ग) वेदवाक्य नं० ३, गृहस्थ, में ऋग्वेद के ५० वें सूक्त के कुछ मंत्रों की व्याख्या करके यह दिखलाया गया है कि गृहस्थ को सुखमय बनाने के लिए वेद में परमेश्वर ने मनुष्य को कैसा उत्तम उपदेश दिया है। इन वेद-वाक्यों के लिखने से पण्डित जी का उद्देश्य वेदों को 'सब सत्य विद्याओं का

भण्डार' प्रमाणित करना प्रतीत होता है। उपर्युक्त वेदमंत्रों की व्याख्या से उनकी आश्चर्यकारिणी प्रतिभा का अच्छा परिचय मिलता है।

९. आध्यात्मिक जीवन के तत्त्व नामक पुस्तक मे बहुत ही गहन और पवित्र विचार प्रकट किए गये हैं। इस में पण्डित जी ने इन तीन सिद्धान्तों का प्रतिपादन और स्पष्टीकरण किया है—

१. कि आध्यात्मिक जीवन एक यथार्थ और सच्चा जीवन है, और कि संसार के झगड़े झमेलों में फँसा हुआ मनुष्य सार्वत्रिक सत्य (परमेश्वर) का पूर्ण रीति से अनुभव नहीं कर सकता, और न ही वह उसे समझ सकता है।

२. विकसित बुद्धि और निर्मल तर्क के द्वारा इस सार्वत्रिक सत्य का अनुभव करने मे अशक्त होने के कारण ही लोगों ने प्रार्थना रूपी औषध की पेटण्ट धर्म्म-चिकित्सायें और अश्रुपूर्ण मस्तिष्क-उपचार निकाले हैं।

३. कि ब्रह्माण्ड का प्रकृत रचयिता एक अदृश्य, प्रतापी, व्यापक और इस आध्यात्मिक जगत् का सर्व-शासक तत्त्व है"।

पण्डितजी इस निबंध में इस परिणाम पर मे पहुंचे हैं कि परमेश्वर का अनुभव करने के लिए आत्मा को उच्च करने का साधन प्रार्थना नहीं, प्रत्युत विकसित बुद्धि है। उनकी सम्मति मे सबसे सच्ची प्रार्थना जो मनुष्य कर सकता है वह अपने आपको उन ईश्वरीय आदेशों की प्राप्ति का पात्र बनाने के लिए धार्मिक उद्योग है जो कि सारे ज्ञान के स्रोत, परमेश्वर, से बुद्धि मे आते हैं।

१०. "धन का डाह" नामक निबंध मे उन अनर्थों का वर्णन है जो कि उस पागलों की सी दौड़ धूप के कारण हो रहे हैं जो कि संसार में धन को इकट्ठा करने के लिए जारी हैं। इसमें आपने मनु भगवान् का "अर्थकामेष्वसक्तानां धर्मज्ञानं विधीयते" प्रमाण देकर सांसारिक धन की तलाश को आत्मिक उन्नति और संसार के सार्वत्रिक कल्याण के लिए घोर हानिकारक सिद्ध किया है। आपका कहना है कि "मन की दौलत ही सच्ची दौलत है। यह अक्षय धन है। इसका जितना आदर और जितना पूजन हो, थोड़ा है। भौतिक और सांसारिक धन को हमें सब से निकृष्ट समझना चाहिए।"

११. "वेदों में मूर्तिपूजन" पर टी० विलियम्स साहब की चिट्ठी का उत्तर।" पादड़ी टी० विलियम्स साहब ने एक लेख में वेदों में मूर्त्ति-पूजन का विधान सिद्ध करने का यत्न किया था। पण्डितजी ने अपने इस निबंध में उन की युक्तियों और प्रमाणों का खूब खण्डन किया है।

१२. "नियोग" पर टी० विलियम्स साहब की दोषालोचना का उत्तर।" टी० विलियम्स साहब ने "नियोग" पर आक्षेप करते हुए स्वामी

दयानन्द, वेद, और सारी आर्य जाति पर गालियों की बोछाड़ की है । इसी का मुंह तोड़ उत्तर पण्डितजी ने इस निबंध में दिया है। इस उत्तर को पाकर पादड़ी साहब को फिर कुछ कहने का साहस नहीं हुआ।

१३. "वेद-वाक्य नं० १, वायुमण्डल, पर टी० विलियम्स साहब के आक्षेप।" पण्डित गुरुदत्त के लिखे इस नाम के निबंध पर टी० विलियम्स साहब ने कुछ आक्षेप किए थे, उन्हीं का उत्तर पण्डितजी ने इसमें दिया है।

१४. "वेदों पर पिनकाट साहब की सम्मति"। इङ्गलेण्ड में पिनकाट नाम के किसी साहब ने वेदों पर एक लेख लिखा था। उसमें उन्होंने वेद के विषय में अनेक भ्रान्तिमूलक बातें लिख दी थीं। इस निबंध में उन्हीं का निराकरण है।

जब पण्डित गुरुदत्त के लेखों का आर्यभाषा में अनुवाद करने की आज्ञा हमें लाहौर के सुप्रसिद्ध आर्यसामाजिक पत्र "प्रकाश" के उप-सम्पादक, और आर्य पुस्तकालय के अध्यक्ष, महाशय राजपालजी ने दी, और अनुवाद करने का निश्चय कर चुकने पर जब हमने इन्हें ध्यान से पढ़ा तब हमें ज्ञात हुआ कि ये लेख बड़े ही क्लिष्ट हैं। अतएव उनका अनुवाद आर्य भाषा में करना कोई सहज काम नहीं। इस पर हमने इस बात की खोज की कि इन निबंधों में से किसी का किसी और भाषा में अनुवाद हुआ है या नहीं। खोज का फल यह हुआ कि हमें माण्डूक्योपनिषद् का उर्दू और आर्य-भाषा में, और "The Realities of Inner life" (आध्यात्मिक जीवन के तत्त्व), Pecuniomania (धन का डाह), और A Reply to Mr. T. Williams Criticism on Niyoga (नियोग पर टी० विलियम्स साहब की दोषालोचना का उत्तर) इन तीन का उर्दू में छपा हुआ अनुवाद मिल गया।

माण्डूक्योपनिषद् का भाषानुवाद "पंजाब मांसभक्षणवर्जनी सभा, लाहौर" के मंत्री श्रीयुत मास्टर आत्मारामजी का किया हुआ है। पण्डितजी के लेखों के अनुवाद का यही प्रथम परिश्रम है। परन्तु इसकी भाषा कुछ पुराने ढंग की है। यथा (क) सृष्टि इसकी दिव्य दृष्टि में योग्य अङ्गों का एक महान् शरीरवत प्रतीत होती है। (ख) बहुत उसके अनुभव (उसके बहुत अनुभव)। (ग) केवल कुछ भाग उसके संग्रहीत अनुभव के (उसके संग्रहीत अनुभव के केवल कुछ भाग)। (घ) जो व्यापक मेरे में है (जो मेरे में व्यापक है)। मान्ते (मानते), वैदिक (वैद्यक), आकर्षन (आकर्षण), ठैर (ठहर), अन्तरगत (अन्तर्गत), सिक्षा (शिक्षा), अक्षीम्ता वायु। इसके अतिरिक्त और भी शब्द हैं जो प्रयोग में नहीं आते। महांता (महत्ता) संक्षेप स्वरूप (संक्षिप्त स्वरूप)। अनुवाद में स्वतन्त्रता भी बर्ती गई है। पृष्ठ ४७ पर अथर्व-वेद काण्ड १० प्र० २३, अनु० ४, मंत्र ३२,३३,३४ का जो अर्थ दिया गया है वह सर्वथा स्वतन्त्र है। पण्डित गुरुदत्त

ने जो अर्थ अँगरेज़ी में दिए हैं उनके साथ इसका कोई सम्बंध नहीं। फिर पृष्ठ ७४ पर उपनिषद् वचन का जो अर्थ दिया गया है वह भी ऐसा है। इसके अतिरिक्त अनेक शब्दों और वाक्यों का अनुवाद ठीक नहीं हुआ,जैसे Unexpected का अनुवाद आशा रहित और Existence का सत्यता किया गया है। इनके लिए ठीक शब्द आकस्मिक और अस्तित्व ही हैं। पृष्ठ ३४ पर soul outwardly stamps matter with its impress का अनुवाद "आत्मा अपने से भिन्न वस्तु को अंकित करता है" दिया गया है जो कि अशुद्ध है।

माण्डूक्य का उर्दू अनुवाद "ओंकार उपासना" नाम से श्रीमती आर्य प्रतिनिधि सभा,पञ्जाब,लाहौर की निगरानी में तैयार हुआ है। इसमें भी अनेक वाक्य बड़े ही अस्पष्ट हैं। उनका अभिप्राय सुगमता से समझ में नहीं आता। देखिए पृष्ठ २४ पर यह पाठ छपा है—"क्योंकि जब तक हिस का असूल पूरे तौर पर कायम न हो ले, इदराक और तसव्वुफ का मादा पैदा नहीं हो सकता और जब कि इदराक की काबलीयत मुनासिब दिली खयालात से पैदा हो गई, इसके बाद सिर्फ तब ही मुकाबला और इमतियाज़ की ताकतें कायम (?) कर सकती हैं और दिली तासरात को जिन्सवार मुरत्तिब शुदा इलामती खयालात में दाखल कर सकती हैं। यही खयालात हैं जिनको हाफज़ा बड़ी होशियारी से पकड़ता और इकट्ठे किए जाता है।" अब इसका आशय सर्वथा अस्पष्ट है।

इसमें अनुवाद की भी अनेक अशुद्धियां हैं। जैसा कि पृष्ठ ४ पर earth का अनुवाद (चन्द्र), और 'Excursion of the molecules along free paths का "लतीफ ज़र्रात एक खास जानिब से इधर उधर चक्कर लगाते हैं" किया है। यहां free paths के लिए "एक खास जानिब से" के स्थान में "उन्मुक्त मार्गों से" होना चाहिए था।

"The Realities of Inner Life" (आध्यात्मिक जीवन के तत्त्व) का उर्दू अनुवाद, "रूहानी ज़िन्दगी की हकीकतें,"ज़ेरे निगरानी व एहतिमाम महाशय वज़ीर चन्द्र अधिष्ठाता आर्य पुस्तक प्रचार' हुआ है इस में मनमानी छोड़ छाड़ की गई है। उदाहरणार्थ अँगरेज़ी पुस्तक के पृष्ठ २३१ की पंक्तियां छोड़ दी गई हैं—Yes, the veil must be removed, the brute in man crushed, before the influx of the Divine Light can be realised. फिर इसी प्रकार पृष्ठ २३४ की इन लाइनों का अनुवाद नहीं दिया—He who styles himself an honest citizen is unjustly living upon heavy profits fitched from the influx of hopeless men. इसके अतिरिक्त अनुवाद में भी कहीं कहीं मन मानी की गई है, यथा She will speak to you of the various elements, the combinations and uses of the gases (page 232) का अनुवाद यह किया है—वह आप को मुख्तलिफ

(भिन्नभिन्न) अनासरों (तत्त्वों) के इतिसाल (संयोग) और इनफिसाल (वियोग) और बुखारात (भाफों) के हाल से आप को मतले (सूचित) करेगा।" इसी प्रकार The universe is fully of the Lord, and there is nothing of the universe which is not of the Lord. का अनुवाद यह किया है—"सारी कायनात (सृष्टि) उस मालिके कुल (सब के स्वामी) से भरपूर है, और [illegible] को कोई चीज़ उस मालिक के इखतियार व इकतिदार (शक्ति) से बाहर नहीं है।" फिर उर्दू पुस्तक के १३वें पृष्ठ पर जो "गरीब नेकी की दौलतमन्द बदी की निसबत ज़ियादा ख्वाहिश की जाती है" लिखा है इसके स्थान में मूल अङ्गरेज़ी शब्दों के अनुसार यह चाहिए था—"दौलतमन्द बदी की गरीब नेकी की निसबत ज़ियादा ख्वाहिश की जाती है।"

Pecuniomonia (धन का डाह) का उर्दू अनुवाद भी आर्य प्रतिनिधि सभा पञ्जाब द्वारा प्रतिष्ठित आर्य पुस्तक प्रचार के अधिष्ठाता महाशय वज़ीर चन्द्र के प्रबन्ध और निगरानी में तैयार हुआ है। इस अनुवाद में भी बहुत कुछ मन मानी की गई है। इसके पहले ही पृष्ठ पर जो मनु० अ० २, श्लोक १३ का अनुवाद दिया गया है वह मन माना है। वह लेखक के मूल अँगरेज़ी शब्दों का अनुवाद नहीं। पण्डित गुरुदत्त ने श्लोक का केवल शब्दार्थ ही नहीं दिया। उन्हों ने अपनी ओर से व्याख्या भी की है। पर इस उर्दू पुस्तक में अनुवादक ने श्लोक के अपनी ओर से केवल अर्थ ही दिए हैं।

फिर कहीं कहीं भाषा ऐसी बेढंगी लिखी गई है कि उसका कुछ भी अर्थ समझ में नहीं आता। मूल अँगरेज़ी पुस्तक में एक स्थल पर ये शब्द हैं—Finally materialism, which I do not mean this or that scientific theory of the universe, but that devotion to the mere husks and rinds of good इनका अनुवाद उर्दू में इस प्रकार किया गया है—'बुहारम माद्दी अकीदत है। इस से भी मेरी मुराद कायनात की इस या उस इलमी थ्युरी से नहीं है, बल्कि उस अकीदे से है जो कि नेकी की सिर्फ ज़ाहरा टीप टाप में लगाता है।' अब इस वाक्य का अर्थ समझना कोई सहज बात नहीं।

कई स्थलों पर मूल अँगरेज़ी शब्दों को समझने में भी गलती खाई है। देखिए अँगरेज़ी पुस्तक के पृष्ठ २५० पर यह पाठ है—"And it is the foundation of these very conditions that he headlong pursuit of money undermines," इस का अनुवाद यह किया है—"इन्हीं के ज़ोर से अँधाधुन्द मुहब्बते दौलत की बेखकनी की जा सकती है" (पृष्ठ २२) पर अँगरेज़ी शब्दों का आशय इस के सर्वथा प्रतिकूल है।

फिर कई अँगरेज़ी वाक्यों का अनुवाद दिया ही नहीं गया। उन्हें

सर्वथा छोड़ दिया गया है। जैसा कि अँगरेज़ी पुस्तक के पृष्ठ २४७ पर की इन सात लाइनों को बिलकुल छोड़ दिया है—

Lawyers, instead of breeding feelings of peaceful friendship and encouraging reconciliation, encourage feud and strife, and fan the flames of haughty pride or revengeful animosity. Tradesmen instead of administering to the wants and needs of the people, and regulating with justice the law of demand and supply, get all they can, and give as little, keep their trade recipes secret or patented, and delude the ignorant consumers with adulterated materials. फिर इसी प्रकार अँगरेज़ी पुस्तक के पृष्ठ २५३ के इस वाक्य का अनुवाद नहीं दिया गया—"Even the industrious dexterity and skilful ingenuity have bowed under the swaying omnipotence of new ideas."

"टी० विलियम्स साहब की नियोग पर दोषालोचना का उत्तर" यह उर्दू अनुवाद बाबू परमानन्द विद्यार्थी तथा बाबू रत्नलाल विद्यार्थी के धर्म्म-प्रेम का फल है। अनुवाद में भी उपर्युक्त अनुवादों की तरह कई एक त्रुटियाँ हैं। इस में shall succeed in the name of his brother which is dead that his name be not put out of Israel. इस वाक्य का अनुवाद यह दिया है—"अपने मरहूम बाप के नाम पर तख्त नशीन होता"। पर चाहिए यह—"अपने मरहूम बाप का जा निशीन होता।"

फिर Accused का अनुवाद 'मुलज़िम' के स्थान में 'मुजरिम', और mean motive का 'कमीना गर्ज़' के स्थान में "कमीना बुग्ज़" किया गया है।

इस के अनेक वाक्य ऐसे भी हैं जो अधूरे और बेढंगे से जान पड़ते हैं यथा-"विलियम्स अपनी सच्ची क्रिश्चियन खासियत को इज़हार करते हुये अपने मिशन के हथियारों को दयानन्द की तरफ़ फेंकता है, और उनको लानत मुलामत का मुस्तहिक बतलाता है। यह भी उन्हीं इलज़ामों में से जो ठीक ठीक टी० विलियम्स के खुदा पर आइद होते हैं" (पृष्ठ २०)। इस के सिर पैर का कुछ पता नहीं लगता।

इस दोष-प्रदर्शन से हमारा उद्देश्य अनुवादक महाशयों की हँसी उड़ाना या उनके परिश्रम, के महत्त्व को घटाना नहीं। इस से हम अपने पाठकों पर यही सिद्ध करना चाहते हैं कि पण्डित गुरुदत्त के लेखों का अनुवाद करना कितना कठिन कार्य है। हम ने अपने इस अनुवाद में उपर्युक्त अनुवादों के गुण तो प्रायः सब ले लिए हैं पर उनका दोष यथासम्भव कोई भी नहीं आने

दिया। हम ने पण्डित जी के एक एक शब्द का अनुवाद किया है। मूल की कोई भी बात नहीं छोड़ी, और न ही अपनी ओर से कोई नया विषय बढ़ाया है। पण्डित गुरुदत्त बहुत बड़े विद्वान् थे। उनकी लेखनी में अद्भुत और आश्चर्यकारिणी शक्ति थी। वे विज्ञान के प्रोफेसर (महोपाध्याय) थे। इसलिए स्थल स्थल पर उनके निबंधों में विशेषतः वेद-वाक्यों में—क्लिष्ट वैज्ञानिक बातें मिलती हैं। उन के विचार अत्यन्त गहन और गम्भीर हैं। अतएव इस अनुवाद में हमें बड़ी बड़ी कठिनाइयों का सामना करना पड़ा है। इस बात को वही लोग अच्छी तरह समझ सकेंगे जिन को कभी इस प्रकार की क्लिष्ट और गम्भीर-विवेचना-पूर्ण पुस्तक के अनुवाद करने का समय आया होगा।

इस अनुवाद में भाषा के सौन्दर्य पर हम ने अधिक ध्यान नहीं दिया। हां, यथाशक्ति हर प्रकार से भाषा को सरल और सब की समझ में आने योग्य बनाने का यत्न किया है। फिर भी विवश होकर हमें बहुत से स्थलों पर संस्कृत के कठिन शब्दों का प्रयोग करना पड़ा है। पर मूल लेखक की भाषा इतनी क्लिष्ट, बह्वर्थगर्भित है और उसके वाक्य इतने लम्बे और जटिल हैं कि हमें इस यत्न में बहुत कम सफलता हुई है। उर्दू में जो अनुवाद मिलते हैं उनकी भाषा भी ऐसी क्लिष्ट है कि फारसी के अच्छे खासे मौलवी के विना वह और किसी की समझ में कठिनता से ही आ सकती है। उर्दू और अङ्गरेज़ी की क्लिष्टता का ध्यान करके यदि हम अपने अनुवाद की भाषा को सीधी सादी कह दें तो कुछ भी अत्युक्ति न होगी। अस्तु भाषा चाहे कैसी हो अभिप्राय समझ में आजाना चाहिए। इसलिए हमने भाषा-सौन्दर्य को गौण रखकर मूल के भाव को ठीक ठीक उतारने की ही चेष्टा की है।

अनुवाद की कठिनता को अङ्गरेज़ी पुस्तक की प्रूफ-सम्बन्धी अशुद्धियों ने और बढ़ा दिया है। इस पुस्तक की प्रकाशिका, दी आर्यन प्रिन्टिङ्ग, एण्ड पब्लिशिङ्ग कम्पनी ने इसके प्रकाशन में ज़रा भी परिश्रम किया प्रतीत नहीं होता। पुस्तक का कोई भी पृष्ठ ऐसा नहीं जिस में दस बीस अशुद्धियां न हों। कई स्थलों में तो पृष्ठ सर्वथा उलट पलट कहीं के कहीं छप गये हैं। प्रूफ की अशुद्धियां इतनी भारी भारी हैं कि शुद्ध पाठ का पता लगाने में बड़ी कठिनता होती है। आर्य पुस्तकों के प्रकाशकों के लिए ऐसी असावधानता सर्वथा अक्षन्तव्य है, क्योंकि इस से पुस्तक की उपयोगिता बहुत घट जाती है। अङ्गरेज़ी पुस्तकें जैसी शुद्ध और सुन्दर आजकल छपती हैं उसका विचार करके यह कहने में तनिक भी सङ्कोच नहीं होता कि ऐसी गन्दी और अशुद्ध छपी हुई पुस्तक को कोई भी अङ्गरेज़ी भाषा भाषी हाथ लगाना पसन्द न करेगा। इस लिए हमारे पुस्तक प्रकाशकों को छपाई की अशुद्धियों को दूर करने का विशेष प्रयत्न करना चाहिए।

प्रस्तुत पुस्तक में हमने पण्डित गुरुदत्त के लेखों के अनुवाद के अतिरिक्त उनके सम्पादक की लिखी भूमिका का अनुवाद भी दे दिया है। साथ ही हम ने अँगरेज़ी में लिखे पण्डित गुरुदत्त के जीवन चरित्र का भाषान्तर भी आरम्भ में लगा दिया है क्योंकि किसी पुस्तक को पढ़ते समय पढ़ने वाले के मन में पुस्तक-कर्त्ता का परिचय प्राप्त करने की इच्छा सहज ही उत्पन्न होती है। पण्डित गुरुदत्त के सम्बंध में हाल ही में एक नई बात का पता लगा है। इसके बताने वाले पण्डितजी के मित्र और रीटायर्ड एक्स्टरा असिस्टेण्ट कमिश्नर सरदार रूपसिंहजी हैं। उन्होंने आर्य-सामाजिक पत्रों में छपवाया है कि पण्डित गुरुदत्तजी ने उनको बतलाया था कि 'ऋषि दयानन्द अपने मुक्तिधाम को पधारने के दिन अजमेर में एक कमरे में लेटे हुए थे। मुझे उन्होंने अपने सरहाने की ओर बिठलाया था। उस समय और दूसरा कोई कमरे में न था। चुप चाप बैठे मैं ने क्या देखा कि एक दयानन्द चारपाई पर लेटा हुआ है और दूसरा दयानन्द छत्त के पास बैठा हुआ व्याख्यान दे रहा है। मैं विस्मित होकर नीचे और ऊपर देखता था। यह एक दृश्य था जिसने मुझे योगी की योग-शक्ति पर पूरा विश्वास करा दिया और ईश्वर के अस्तित्व में मेरा पूर्ण निश्चय हो गया।'

पण्डित गुरुदत्त ऐसे विद्यावारिधि के ग्रन्थों का अनुवाद करने की हम में यथेष्ट योग्यता नहीं। फिर भी इन परमोपयोगी लेखों के अनुवाद से होने वाले लाभों के विचार से हम ने जो यह चपलता की है, उसे आशा है, विचारशील पाठक क्षमा करेंगे।

पुरानी बस्ती—होशियारपुर
१ मार्गशीर्ष सम्वत् १९७५.

सन्तराम बी० ए०

ओ३म

माण्डूक्योपनिषद् ।

जुलाई १८८९.

ओमित्येतदक्षरमिद ँ सर्वं तस्योपव्याख्यानं भूतं भवद्भविष्यदिति सर्वमोङ्कार एव । यच्चान्यत्त्रिकालातीतं तदप्योङ्कार एव ॥ १ ॥

"ओम्" सनातन और सर्वव्यापक आत्मा का नाम है। वेद और शास्त्र, प्रत्युत विश्व ब्रह्माण्ड भी, जब यथार्थ ज्ञान के नेत्रों से देखा जाय तो, उसी

पाद टीका—१. अक्षर का अर्थ 'सनातन और सर्वव्यापक' किया गया है; देखिए पतञ्जलि मुनि अपने महाभाष्य के द्वितीय आह्निक में सातवें शिव सूत्र पर लिखते हैं—

अक्षरं नक्षरं विद्यात ।

न क्षीयते न क्षरतीति वाक्षरम् ।

अश्नोतेर्वा सरोऽक्षरम् ।

अश्नोतेर्वा पुनरयमौणादिकः सरन् प्रत्ययः । अश्नुत इत्यक्षरम् ॥

अर्थात् अक्षर वह है जो कभी क्षय, विनाश, वा विकार को प्राप्त नहीं होता। जो हिलता और बदलता नहीं। अक्षर का अर्थ (अश्, धातु और उणादि सरन् प्रत्यय से) सर्वत्र व्यापक भी है। इसलिए 'सनातन और सर्व व्यापक' अर्थ हुआ।

स्वामी दयानन्द अपनी ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका में ४४ पृष्ठ पर २१ से लेकर २५ पंक्ति तक इस वाक्य का अनुवाद इस प्रकार करते हैं—

ओमित्येतद्यस्य नामास्ति तदक्षरम्। यन्न क्षीयते कदाचिद्यच्चराचरं जगदश्नुते व्याप्नोति तद् ब्रह्मैवास्तीति विज्ञेयम् । अस्यैव सर्वैर्वेदादिभिः शास्त्रैः सकलेन जगतावोपगतं व्याख्यानं मुख्यतया क्रियते ॥

जो अर्थ हमने किए हैं यह अक्षरशः वही है।

सत्ता के स्वभाव और गुणों का व्याख्यान रूप है। वही ओम भूत, भवत् (वर्त्तमान) और भविष्यत् का परिवेष्टन करता है, और वह पूर्ण है। प्रत्युत जो भूत, वर्त्तमान, और भविष्यत् के भी अन्दर नहीं, वह भी उसके अन्दर है।

सर्व ँ ह्येतद् ब्रह्मायमात्मा ब्रह्म सो ऽयमात्मा चतुष्पात् ॥ २ ॥

वह परब्रह्म सब में परिपूर्ण है। वह जो मेरे आत्मा मे व्यापक है वही सब सृष्टि का महान् आत्मा है। उसकी सत्ता की अवस्थाओं की संख्या चार है।

हम ने भूतम्, भवत्, और भविष्यत् को विशेष्य मानकर अनुवाद किया है। इस से यह अर्थ निकलता है कि 'परमेश्वर भूत का परिवेष्टन करता है, परमेश्वर वर्त्तमान का परिवेष्टन करता है, और परमेश्वर भविष्यत् का परिवेष्टन करता है'। पर यह अर्थ उस साधारण अर्थ के विपरीत है जो भूतम्, भवत्, और भविष्यत् को सर्वम् का केवल विशेषण मानकर किया जाता है। स्पष्ट ही हम ने सर्वम् का अर्थ पूर्ण किया है। इसकी युक्तियों के लिए निरुक्त, परिशिष्ट, १४वे अध्याय के १३वें और १४वें ~~खण्डों~~* को देखो। वहां भूत, भवत्, भविष्यत्, और सर्वम् परमेश्वर वा आत्मा के नाम बताये गये हैं।

२.—आत्मा—"सर्वव्यापक परमेश्वर।"

मातिभ्यां मनिन् मनिणौ। उणादि सूत्र ४।१५१॥

अर्थात् आत्मा अत् धातु से मनिन् उणादि प्रत्यय लाकर बना है।

अतति व्याप्नोतीतिवात्मा—अर्थात् आत्मा वह है जो सब में व्यापक है। और निरुक्त ३।१५ देखो—

आत्माऽततेर्वाप्तेर्वाप्ति इव स्याद् यावद् व्याप्तिभूत इति॥

स्वामी दयानन्द "अयमात्माब्रह्म" (जो कि नवीन वेदान्तियो का एक प्रसिद्ध महावाक्य है) का अर्थ सत्यार्थ-प्रकाश, संस्करण तीसरे के १०५वें पृष्ठ की २६वीं पंक्ति मे इस प्रकार करते है—

"अयमात्मा ब्रह्म" अर्थात् समाधि दशा में जब योगी को परमेश्वर प्रत्यक्ष होता है तब वह कहता है कि यह जो मेरे में व्यापक है वही ब्रह्म

---

*खण्ड १३, १४ के स्थान में ग्यारहवां देखो। भगवद्दत्त

जागरितस्थानो बहिः प्रज्ञः सप्ताङ्ग एकोनविंशति मुखः स्थूलभुग्वैश्वानरः प्रथमः पादः ॥ ३ ॥

प्रथम जागरित अवस्था है। इस अवस्था में ईश्वर बाह्य जगत् में व्यापक; ब्रह्माण्ड रूपी शरीर के सप्त अङ्गों में अविरत क्रिया और प्रतिक्रिया कराता; विचार और परस्परान्वय के उन्नीस करणों को, जिनसे प्राणधारी

सर्वत्र व्यापक है।" (सं० १९६८ मे स० प्र० का जो दशवां संस्करण छपा है उसमें यह अवतरण पृष्ठ २०५ पर मिलेगा—अनुवादक।)

पाद्—सत्ता की अवस्था। यह पद धातु से बना है जिसका अर्थ गति है।

३—सप्ताङ्ग—शरीर के सात अङ्ग ये हैं। (१) शिर, (२) आंख, (३) कान, (४) मुख, (५) प्राण, (६) हृदय, (७) पांव। इनकी कभी कभी कुछ भिन्न प्रकार से भी गणना होती है। स्पष्टीकरण इसके उपरान्त आयगा।

एकोनविंशतिमुखः—

विचार और परस्परान्वय के उन्नीस अन्तरीय करण। वे ये हैं—५ ज्ञान इन्द्रियां, अर्थात् कान, त्वचा, जिह्वा, नाक, और आंख; ५ कर्म्म इन्द्रियां, अर्थात् हाथ, पांव, उपस्थेन्द्रिय, गुदा, और वाणी; ५ प्राण या जीवनभूत स्नायुजन्य शक्तियां, अर्थात् 'प्राण" जो श्वास लेने की क्रिया में वायु को बाहर से फेफड़ों में भेजता है; "अपान" जो भीतर से बाहर की ओर गति उत्पन्न करता है; "समान" जो हृदय में से रक्त को सारे शरीर में घुमाता है; "उदान" जिससे कण्ठस्थ अन्न पान खींचा जाता, और बल पराक्रम होता है; और 'व्यान" जो शरीर के सारे अङ्गों में चेष्टा पैदा करता है। देखो सत्यार्थप्रकाश, पृष्ठ २४२, पंक्ति १५ से १८ तक। (जो सत्यार्थप्रकाश दशम वार सम्वत् १९६८ वि० में छपा है उसमें प्राणों का वर्णन पृष्ठ २५५ पर, पंक्ति ९, से १२ तक में है—अनुवादक); मनस् अर्थात् संकल्प और विकल्प की इन्द्रिय; "बुद्धि" अर्थात् विचार की इन्द्रिय; चित्त अर्थात् स्मृति की इन्द्रिय; अहङ्कार अर्थात् अभिमान और व्यक्तित्व की इन्द्रिय।

वैश्वानर का अनुवाद यहां वह ईश्वर "जोकि व्यापक हैं, अविरत क्रिया और प्रतिक्रिया कराता हैं, इन्द्रियों का यथोचित विधान स्थिर

स्थूल जगत् में उपभोगों की तलाश कर सकते हैं, यथोचित विधान स्थिर करता: और सृष्टि की भौतिक गतियों का ठीक ठीक क्रम और नियम के अनुसार प्रबंध करता है।

स्वप्रस्थानोऽन्तः प्रज्ञः सप्ताङ्ग एकोनविंशति मुखः प्रविविक्तभुक् तैजसो द्वितीयः पादः ॥ ४ ॥

दूसरी चिन्तन अवस्था है। इस अवस्था में ईश्वर का ध्यान इस प्रकार किया जाता है कि वह अभ्यन्तर रचना में निवास करके रचना के सात अङ्गों का परस्पर सम्बंध नियत करता है, अथवा परस्परान्वय के उन्नीस करणों को अदृष्ट कार्य्यों के योग्य बनाता है, और इस प्रकार उन विभिन्न भावों को सुश्रृङ्खलित करता है जिनसे कि रचना बनी है, और जगत् का एक अदृश्य परन्तु अन्तरीय सावयवी शरीर रचता है।

करता है, और सृष्टि की भौतिक गतियों का ठीक ठीक क्रम और नियम के अनुसार प्रबन्ध करता है" किया गया है।

यास्क वैश्वानर के विषय में इस प्रकार कहते हैं—

वैश्वानरः कस्माद्विश्वान् नरान् नयति विश्व एवं नरा नयन्तीति वापि वा विश्वानर एव स्यात्प्रत्यृतः सर्वाणि भूतानि ॥ निरुक्त, ७, २१।

अर्थात् वैश्वानर वह है जो सर्व जीवों का नियन्ता और अधिष्ठाता है, जिस की ओर सब जीव जारहे है, या जो स्वयम् विश्वानर है अर्थात् जो कि सब में व्यापक होकर उनको चला रहा है।

४—स्वप्न स्थानः—का अनुवाद हमने "चिन्तन अवस्था" किया है, क्योंकि स्वप्न में केवल मन की ही क्रिया होती है, वह वस्तु और उसकी चिन्ता में भेद नहीं करता। इसलिए मन के सामने केवल उसकी चिन्ताएँ ही वस्तुओं के रूप में विद्यमान होती हैं। इसी कारण स्वप्नावस्था का अनुवाद चिन्तनावस्था किया गया है।

अगले वाक्य में जो तैजस और प्राज्ञ शब्द आये है उनके विषय में यास्क मुनि कहते हैं—

प्राज्ञश्चात्मा तैजसश्चेसात्मगतिमाचष्टे। निरुक्त १२। ३७॥

प्राज्ञ और तैजस शब्द आत्मा के अस्तित्व की दो अवस्थाओं को प्रकट करते हैं।

यत्र सुप्तो न कञ्चन कामं कामयते न कञ्चन स्वप्नं पश्यति तत्सुषुप्तम् । सुषुप्तस्थान एकीभूतः प्रज्ञानघन एवानन्दमयो ह्यानन्दभुक् चेतोमुखः प्राज्ञस्तृतीयः पादः ॥ ५ ॥

जब मनुष्य का मन सर्व स्वेच्छाधीन क्रियाओं को छोड़कर गाढ़ निद्रा को प्राप्त होता है और इच्छा, वासना, और स्वप्नों से रहित होता है तब वह सुषुप्ति में होता है । तीसरी अवस्था सुषुप्ति की अवस्था है । इस में, मनुष्य की आत्मा के सदृश जो कि सुषुप्ति अवस्था में अपने आप में निमग्न होती है, ईश्वर का ध्यान इस प्रकार किया जाता है कि वह स्वयम्, सर्व भावों और नियमों की मूर्ति, पूर्ण आनन्दमय, केवल आनन्द ही का भोक्ता, परम विज्ञानमय, और केवल अपनी चेतनता में ही प्रत्यक्ष है ।

एष सर्वेश्वर एष सर्वज्ञ एषोऽन्तर्य्याम्येष योनिः सर्वस्य प्रभवाप्ययौ हि भूतानाम् ॥६॥

वह सर्वेश्वर, सर्वज्ञ, अन्तर्यामी, अन्तरीय जीवन का नियन्ता है । उसी से सब कुछ निकला है, और वही सब भूतों का मूल तथा आश्रय है ।

नान्तःप्रज्ञं न बहिःप्रज्ञं नोभयतःप्रज्ञं न प्रज्ञानघनं न प्रज्ञं नाप्रज्ञम् । अदृष्टमव्यवहार्य्यमग्राह्यमलक्षणमचिन्त्यमव्यपदेश्यमेकात्मप्रत्ययसारं प्रपञ्चोपशमं शान्तं शिवमद्वैतं चतुर्थं मन्यन्ते स आत्मा स विज्ञेयः ॥७॥

न तो उसे आभ्यन्तरिक चित्र का चित्रकार, न सर्व बाह्य जगत् में व्यापक, न इन दो के बीच की अस्थिर अवस्था में; न ज्ञानस्वरूप, न इच्छामय

७—प्रपञ्च अर्थात् दृश्यमान् जगत् । यह पचि धातु पचि व्यक्तिकरणे या पचि विस्तारवचने से बना है । पचि का अर्थ है इन्द्रियगोचर बनाना या सर्वांश में विकसित करना ।

उभयतः प्रज्ञं उस अवस्था को कहते हैं जोकि जागृत और स्वप्न के बीच होती है । नोभयतः प्रज्ञं शब्द या जैसा कि शङ्कर कहते हैं "अन्तरालावस्था प्रतिषेधः" यह दिखलाने के लिये रक्खा गया है कि यहां हम दोनों के मध्य की अवस्था को भी निकाल देते हैं ।

चेतनता से परिपूर्ण, न चेतनता से रहित मान कर उसका चिन्तन करो। किन्तु उसे अदृश्य, अकाय, अगम्य, लक्षण रहित, अचिन्तनीय, अज्ञेय, अपने में केवल अपने को ही जानने वाला अर्थात् एक आत्मा, अद्वितीय, सर्व प्रपञ्चों से रहित, पूर्ण शान्त, आनन्दमय, एक और केवल एक समझकर उसका ध्यान करो। यही चौथी या शुद्ध अवस्था है। यही सर्वान्तरात्मा है। इसको अवश्य साक्षात् करना चाहिए।

सो ऽयमात्मा ऽध्यक्षरमोङ्कारो ऽधिमात्रं पादा मात्रा मात्राश्च पादा अकार उकारो मकार इति ॥ ८॥

ओम् उस सनातन, सर्वव्यापक, सर्वान्तरात्मा का सब से पवित्र नाम है। इस आत्मा के अस्तित्व की अवस्थायें ठीक तौर पर अ, उ, और म मात्राओं से प्रकट की गई हैं। इन्हीं मात्राओं से एकाक्षर ओम् बना है।

जागरितस्थानो वैश्वानरो ऽकारः प्रथमा मात्राप्तेरादिमत्वाद्वाप्नोति ह वै सर्वान् कामानादिश्च भवति य एवं वेद॥९॥

पहली मात्रा, अकार, का अर्थ जागरित अवस्था या बाह्य जगत् में ईश्वर की व्याप्ति है; क्योंकि 'अ' का अर्थ है वह जो सर्वत्र व्यापक और प्रथमारम्भ में जाना जाता है। जो मनुष्य ईश्वर की इस अवस्था को साक्षात् कर लेता है उसकी वासना पूर्ण रूप से तृप्त हो जाती है, और मानों उसने पहला पग रख दिया है।

स्वप्नस्थानस्तैजस उकारो द्वितीया मात्रोत्कर्षादुभयत्वाद्वोत्कर्षति ह वै ज्ञानसन्ततिं समानश्च भवति नास्या-

---

८—मात्रा शब्द का अर्थ यहां वह वस्तु दिया गया है जो दूसरी वस्तु के मूल्य को निरूपित या प्रकट करती है। देखो उणादिकोष ४। १६८—हुयामाभिसिभ्यस्त्रन् या मातीति मात्रा मानं वा। अर्थात् मात्रा वह है जो मापती; या मूल्य का निरूपण करती है। इसलिए "प्रकट करती है" अर्थ हुआ।

९—यहाँ मात्रा अ अप् धातु (आप्लृ व्याप्तौ) से जिस का अर्थ व्यापक होना है बनी हुई या आदि का संक्षिप्त रूप (जिस का शब्दार्थ पहला पग है) दिखलाई गई है। इसलिए इस का अर्थ वह पुरुष जिस ने पहला ही पग रखा है या उत्साही आरम्भक हुआ।

ब्रह्मवित्कुले भवति य एवं वेद ॥१०॥

दूसरी मात्रा 'उ' के अर्थ चिन्तनीय अवस्था अथवा अन्तरीय रचना चित्र मे ईश्वर का निमग्न होना है। क्योंकि उ के अर्थ आलेखक और कार्य्य को पूरा करने वाला दोनों हैं। इश्वरीय सत्ता की इस अवस्था का अनुभव करने वाला ज्ञान लाभ करता और सब प्रकार से उन्नत होजाता है। उस के कुल में कभी कोई ऐसी सन्तान उत्पन्न नहीं होती जो ब्रह्म ज्ञान की अपेक्षा करे।

सुषुप्तस्थानः प्राज्ञो मकारस्तृतीया मात्रा मितेरपीतेर्वा मिनोति ह वा इदꣳसर्वमपीतिश्च भवति य एवं वेद ॥११॥

११—तीसरी मात्रा "म" का अर्थ सुषुप्ति अवस्था या ईश्वर को उस के अपने स्वरूप में देखना है। क्योंकि म का अर्थ सब को मापने वाला या सब का आश्रय है। जो ईश्वर की इस अवस्था का अनुभव करलेता है वह जगत् के सारे ज्ञान को माप लेता (प्राप्त होना) और परमेश्वर मे विश्राम करता है।

अमात्रश्चतुर्थो ऽव्यवहार्य्यः प्रपंचोपशमः शिवो ऽद्वैत एवमोङ्कार आत्मैव संविशत्यात्मनात्मानं य एवं वेद य एवं वेद ॥ १२ ॥

१२—चौथी कोई मात्रा नहीं क्योंकि यह अगम्य, अद्वितीय, सर्व प्रपञ्च रहित को प्रकट करती है। जो इस सत्य आत्मा, ओंकार को साक्षात् कर लेता है वह अपने आत्मा का उल्लङ्घन करके अपने आत्मा के नियन्ता, ईश्वर, को पालेता अर्थात् मोक्ष को प्राप्त होजाता है।

१०—यहाँ "उ" "उत्कर्ष" या "उभय" से उत्पन्न हुआ है उत्कर्ष कृष से बना है जिस का अर्थ बाह्यरेखा खेंचना या चिन्ह लगाना है अतएव इस का अर्थ चित्र बनाना हुआ। उभय का अर्थ "दोनों" है।

११—"सब को मापने वाला" अर्थात् जिसकी अनन्त शक्ति के सामने विश्व ब्रह्माण्ड की रचना केवल परिमित और परिमेय है।

व्याख्यानम् ।

उपासना सत्य धर्म्म का प्रथमाङ्ग है। यह आन्तरिक भावों की स्वाभाविक घोषणा है। इस में और देवमंदिरों की झूठी उपासना में भेद है। देवमंदिरों में प्रत्येक कार्य्य स्वाभाविक होने के स्थान में पहले ही से स्थिर किया होता है। वहाँ हार्दिक भावों की सरल घोषणा के स्थान में शब्द-पाण्डित्य और अलङ्कारों का प्रवाह बहाया जाता है। वहाँ आन्तरिक मनोभावों के स्वतंत्र प्रकाश के स्थान में कृत्रिम गम्भीरता का झूठा दिखलावा किया जाता है। यह सच्ची उपासना नहीं। इस के विपरीत सच्ची उपासना वह है जो अकृत्रिम भाव, अगाध आकर्षण, और आत्मा को निमग्न करने वाले ध्यान से पूर्णतया भरी हो। सच्ची उपासना, जोकि सत्य धर्म्म का फल है, मनुष्य-प्रकृति के रोम रोम में रम रही है।

मानव-आत्मा की तहों के अन्दर सर्व धर्म्म का बीज लपेटा हुआ रखा है। प्रत्येक मनुष्य को आध्यात्मिक स्वभाव मिला है। यह स्वभाव उसे प्रत्येक शुद्ध, पवित्र, श्रेष्ठ, और मनोहर पदार्थ की ओर उठाता है। जीवन की पवित्रता, हार्दिक भावों की शुद्धि, विचार की उच्चता, और सच्चरित्रता हमारे अन्दर न केवल आदर, सम्मान, स्तुति वा पूजा के यथायोग्य भाव भर देते हैं प्रत्युत हमारी आकाँक्षायें न्यायकारी, सत्य, अनन्त, और दिव्य की ओर जाने के लिए अत्यंत उच्च अवस्था को प्राप्त हो जाती हैं। हमारे आध्यात्मिक स्वभाव का यही अङ्ग सर्व धर्म्म का मूल है। यही हमारे अन्दर उन सब बातों के लिए जो कि हमारे मनोभावों को उच्च और उत्कृष्ट बनाती हैं आदर का भाव, और उन सब बातों के लिए जिन से हमारी उन्नति और ज्ञानवृद्धि हुई है नम्र कृतज्ञता का भाव उत्पन्न करता है।

मानव मन के अन्यभावों के समान धर्म्म-भावों का भी दुरुपयोग हो सकता है। वे भी अपने उपयोग मे बिगाड़े जा सकते हैं। धर्म्म-भाव अत्यन्त उत्तेजना पाकर एक सादा सी सचाई के विषय में अत्युक्ति कर सकता है, या उसका बहुत रङ्गीन शब्दों में वर्णन कर सकता है। या किसी कर्म की पवित्रता को मर्यादा से अधिक बढ़ाकर दिखा सकता है। या जहां तर्क की राजेश्वरी शक्ति अभी विकास को प्राप्त नहीं हुई, या बहुत निर्बल है, वहां यह अत्यन्त पूजा बढ़कर मूर्तिपूजन या मूढ़विश्वास मूलक सम्मान का रूप धारण

कर सकती है। या इसके विपरीत जहां शुद्ध अनुभव या आन्तरिक सूक्ष्मबुद्धि के अभाव से तर्क शक्तियां बहुत उग्र परन्तु विवेचन शक्तियां अपेक्षाकृत मँद हैं, वहां इसके कारण प्रकृति में संशय, नास्तिकता, या अवज्ञा जड़ पकड़ लेती है। परन्तु उन्नति का अनुभव या विशुद्ध स्वतंत्रता का आनन्द ठीक उतना ही प्राप्त होगा जितना कि इस शक्ति से स्वाभाविक तौर पर काम लिया जाएगा। मनुष्य प्रायः अपनी अविद्या के कारण झूठे देव की उपासना करता है। सृष्टि के नियन्ता के स्थान में वह अपने कल्पित देव, लोकाचार के देव, लोक अनुमोदित देव, या अपने भावों और अतृप्त वासनाओं के देव का पूजन करने लगता है। और इसका परिणाम क्या है ? मूढ़विश्वास, अधार्मिकता, अन्याय, और क्रूरता का जीवन। इसलिए उपासना की सच्ची विधि की, हां ऐसी विधि की भारी आवश्यकता है जो कि मिथ्या धर्म्म-शिक्षा या प्रचलित लौकिक रीति द्वारा प्रतिपादित न हो प्रत्युत आध्यात्मिक स्वभाव और तर्क की अतीव गम्भीर सूक्ष्मबुद्धि के अनुकूल हो। उपासना की ऐसी ही विधि का माण्डूक्योपनिषद् में वर्णन है।

यह केवल परब्रह्म की, जो कि सनातन, सर्वव्यापक, और सृष्टि का परम आत्मा है, उपासना सिखलाती है। क्योंकि परमात्मा के ज्ञान, अनुभव और सच्ची भावना के बिना मन की उमड़ी हुई, प्रमुदित, और आनन्दमयी अवस्था के, जिस का दूसरा नाम उपासना है, अनुकूल और क्या वस्तु हो सकती है ? केवल सनातन परमात्मा की उपासना का ही उपनिषदों में उपदेश है, इस सनातन परमेश्वर का नाम सब कहीं ओंकार है।

कठोपनिषद् की वल्ली २, मंत्र १५ में यों लिखा है—

सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति तपांसि सर्वाणि च यद्वदन्ति।
यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यंचरन्ति तत्ते पदं संग्रहेण ब्रवीम्योमित्येतत्॥

जिस परब्रह्म के परमपद को प्राप्त करने की शिक्षा सब वेद करते हैं, और जिस को पाने के लिए तप और जिस को मिलने की इच्छा से ब्रह्मचर्य्य किया जाता है उस (पद) को मैं तुझे संक्षेप से बताता हूँ। वह ओम् है। या छान्दोग्योपनिषद् के शब्दों में 'ओमित्येतदक्षरमुद्गीथमुपासीत।" ओम् सनातन, सर्वव्यापक सत्ता है। केवल उसी की उपासना करनी चाहिए। मुण्डकोपनिषद् द्वितीय मुण्डक, खण्ड २, मंत्र ५, ६ में इस से भी स्पष्ट लिखा है—

यस्मिन्द्यौः पृथिवी चान्तरिक्षमोतं मनः सह प्राणैश्च सर्वैः।
तमेवैकं जानथ आत्मानमन्या वाचो विमुञ्चथ अमृतस्यैष सेतुः॥५॥

अरा इव रथनाभौ संहिता यत्र नाड्यः स एषो ऽन्तश्चरते बहुधा जायमानः।
ओमित्येवं ध्यायथ आत्मानं स्वस्ति वः पराय तमसः परस्तात् ॥६॥

अर्थात् वह जोकि अन्तरीय और अदृश्य रीति से सूर्य्य, पृथिवी और अन्तरिक्ष को उनके अपने अपने स्थानों में धारण करता है, और जो प्राण, मस्तिष्क, फेफड़ों, और सर्व विविध इन्द्रियों का पोषण करता है वही अद्वितीय सर्वान्तरात्मा है। हे मनुष्यों! सब बखेड़ों को छोड़ कर केवल उसी एक को जानने का यत्न करो, क्योंकि मोक्ष को प्राप्त कराने वाला वही एक सूत्र है। ५। जिस प्रकार चक्र (पय्ये) के आरे नाभि अर्थात् केन्द्र में आकर मिलते हैं, ठीक उसी प्रकार हृदय में सर्व रक्तवाहिनी नाड़िया आकर मिलती हैं। इसी हृदय में अन्तरीय रीति से शासन करने वाली दिव्य अन्तरात्मा निवास करती है और अपनी महिमा अनेक प्रकार से प्रकट कर रही है। उस आन्तरिक रीति से शासन करने वाली अन्तरात्मा ओम् का ध्यान धरो, क्योंकि केवल इस प्रकार ही तुम इस जीवन रूपी क्षुब्ध सागर के अविद्याजन्य दुःखों को बहुत पीछे छोड़कर निर्विघ्नतापूर्वक आनन्द धाम में पहुँच सकोगे। ६।

तब ओम् का चिन्तन क्या है? उस की उपासना की रीति क्या है? इस प्रश्न का उत्तर योगदर्शन १।१।२७—२८ में इस प्रकार दिया गया है—

तस्य वाचकः प्रणवः। तज्जपस्तदर्थभावनम् ॥

सृष्टि के नियन्ता, परब्रह्म, का सर्वश्रेष्ठ नाम ओम् है। उसके नाम का जप करना, और उसके गूढ़ अभिप्राय का नित्य मन में चिन्तन करना, ध्यान की इस दो प्रकार की विधि को उपासना कहते हैं। व्यास जी इन दो सूत्रों की व्याख्या करते हुए लिखते हैं—

"ओं शब्द सृष्टि के नियन्ता को प्रकट करता है। क्या यह केवल स्वच्छन्द मनुष्यकृत रीति से प्रकट करता है, या किसी स्वाभाविक रीति से, जैसाकि दीपक का प्रकाश दीपक को या सूर्य्य का प्रकाश अपने स्रोत सूर्य्य को प्रकट करता है? निस्सन्देह चिह्न 'ओम' और जिस का यह चिह्न है इन दोनों का सम्बन्ध कृत्रिम नहीं प्रत्युत वास्तविक है और यह चिह्न केवल वास्तविक सम्बन्ध को प्रकट करता है। उसी प्रकार का एक उदाहरण लीजिए। पिता और पुत्र का सम्बन्ध वास्तविक है। यह प्रकट करने के पहले भी कि यह पिता है और वह पुत्र है, उनका परस्पर सम्बन्ध वस्तुतः विद्यमान होता है। क्योंकि शब्द, अर्थ और उनका परस्पर सम्बन्ध स्वाभाविक है न कि कृत्रिम या कल्पित, इसलिए भविष्यत् युगों में भी यही चिह्न 'ओं' वही अर्थ देगा। कारण यह कि ईश्वरीय ज्ञान के जानने वाले अर्थात् वे योगी जिन्हों

ने साक्षात् कर लिया है कि वाचक शब्द और वाच्य अर्थ में परस्पर सम्बन्ध क्या है वे इसे एक निश्चित सत्य मानते हैं कि शब्द, उनके अर्थ, और उनका पारस्परिक सम्बन्ध मनुष्य की घड़न्त नहीं प्रत्युत नित्य है, अर्थात् प्रकृति में विद्यमान है*।

"ओम् का जप करना और मन में उसके अर्थों का नित्य ध्यान करना यह उसकी उपासना की दो विधियां हैं। वह योगी जो सदा इन दोनों विधियों को करता है उसको मानसिक एकाग्रता प्राप्त होजाती है. और, जैसा कि अन्यत्र कह चुके हैं, पूर्वोक्त जप और ध्यान में मन एकाग्र होजाता है, और मन की एकाग्रता से साक्षात्कार सुगम होजाता है यहां तक कि दोनों की निरन्तर क्रिया और प्रतिक्रिया से महेश्वर का तेज पूर्ण रूप से योगी के हृदय में चमकने लगता है।"—व्यासभाष्य, सूत्र २७ और २८।

ओं का जप और मन में उसके अर्थ का नित्य ध्यान धरना ये दो ईश्वरीय उपासना के मूलतत्व मानकर यह जानना अत्यन्त आवश्यक होजाता है कि एकाक्षर ओं का अर्थ क्या है, क्योंकि जप ध्यान करने का केवल एक आरम्भिक साधन है। हम ने केवल यही कहा है कि ओं सनातन, सर्वव्यापक आत्मा है। यह साधारण लक्षण मात्र है। परन्तु हमें अभी इस अक्षर के सविस्तर आशय का कोई निश्चित ज्ञान नहीं। परन्तु यह परम प्रसिद्ध बात है कि सारे वैदिक साहित्य में ओं के बराबर पवित्र और कोई भी शब्द नहीं। यह वेदों का सार, और परब्रह्म का सब से महान्, उत्कृष्ट, और प्रिय नाम माना जाता है, और उपासना के विशेष रूप से योग्य है। ओम् शब्द का पहले उच्चारण किये विना कोई भी वेदमन्त्र कभी पढ़ा नहीं जाता। यह केवल इसलिए नहीं कि ओं शब्द अतीव कोमल, सुरीला, और सुगमता से बोला जा सकता है, न केवल इसलिए कि वे मात्रायें जिन से यह ओं शब्द बना है उस दूध पीते बालक के मुख से, विना किसी प्रकार की शिक्षा के, अपने आप निकल जाती है, जो कि अभी ॐ ओं ही करने लगा है, प्रत्युत इसलिए कि उसके अर्थों में कोई [illegible] वस्तु अधिक गूढ, प्रिय, और दिव्य है। यह सत्य है कि

* [illegible] के [illegible]यात्मक-प्रकृति वाले पाठकों की समझ में यह बात अधिक सुगमता से आजाएगी [illegible] यह मैक्समूलर साहब के शब्दों में (जोकि अधिक अनाश्रित होने से हमारे लिए कम प्रामाणिक हैं) बयान की जाय। मैक्समूलर कहते हैं "वे (धातु) शब्द-चिन्ह हैं और मानव-प्रकृति की सहज शक्ति से उत्पन्न हुए हैं। अफलातू के कथनानुसार वे स्वाभाविक हैं, यद्यपि अफलातू के कथन के साथ हमें यह और जोड़ देना चाहिए कि स्वाभाविक होने से हमारा अभिप्राय 'ईश्वर के हाथ से बने" है। देखो, Lectures on the Science of Language 11th Edition, London Page 402.

जहां परमेश्वर के दूसरे नाम सांसारिक पदार्थों के भी नाम हैं (यथा संस्कृत मे ईश्वर नियन्ता का भी नाम है, यहां तक कि ब्रह्म सर्वव्यापक आकाश और वेदों का भी नाम है, अग्नि भौतिक आग का भी नाम है और ईश्वर का भी, इत्यादि) वहां ओम केवल सनातन, सर्वव्यापक, विश्वात्मा का ही नाम है। यह युक्ति तो उसके निश्चित और परिमित अर्थों के लिए होसकती है परन्तु उस अतीव उच्च महत्व के लिए जो कि उसके साथ लगाया जाता है यह कोई युक्ति नही। यह भी सत्य है कि संस्कृत के किसी अन्य ईश्वर-वाचक शब्द की अपेक्षा ओं के अर्थ अधिक व्यापक हैं, या दूसरे शब्दो मे परमेश्वर के जितने गुणों का इस एक अक्षर से बोध होता है उतना किसी और अकेले शब्द या अक्षर से नहीं होता। परन्तु यह भी गौण बात है। सब से गूढ और वास्तव में सब से भारी युक्ति यह है कि ओम का अर्थ परमेश्वर के साक्षात करने का मूल साधन है। ओं अक्षर के वर्ण ध्यान के उन अनुक्रमिक पादों को अनुपम शुद्धता के साथ प्रकट करते है जिन मे कि मनुष्य ईश्वर के यथार्थ स्वरूप के साक्षात् करने के लिए प्रस्तुत होता है।

ईश्वर के इस साक्षात् करण की विधि उस विधि से सर्वथा विपरीत है जिस से कि मन बाह्य जगत् मे कार्य्य करता है। यदि पिछली को बाह्य वृत्ति कहें अर्थात् मन की आन्तरिक शक्तियो को इतना फैलाना कि वे बाह्य जगत् मे प्रकट होजाय, तो पूर्वोक्त को अन्तर्वृत्ति कह सकते है अर्थात् मन का अपने आप में लय होजाना यहां तक कि वे शक्तियां जो बाह्य स्थूल जगत पर कार्य्य कर रही थी बाहर से हट कर अधिक अन्तरीय कार्य्य के लिए भीतर आ जावें। एक परिचित दृष्टान्त लीजिये। जब एक धनुर्धर लक्ष्य पर बाण मारता है तो वह अपने ध्यान को भीतर से बाहर की ओर लेजाता है। वह अपनी आंख को लक्ष्य की ओर बाण के साथ एक ही सीधी रेखा मे लगाकर धनुष को फैलाता और तीर को छोड़ देता है। इसी प्रकार मन बाह्य वस्तुओ मे क्रिया करता है। भीतर की ओर लेजाने और ईश्वर का चिन्तन करने के लिए, वह मनुष्य अपनी इन्द्रियों को उनके बाह्य विषय से हटा लेता है, और मन की बाह्य चेष्टा के बन्द होजाने पर, वह ध्यान के उत्तरोत्तर पादों मे से, जो कि ओम अक्षर की मात्राओं मे संयुक्त है, परमात्मा की अधिक अन्तरीय, और, इस लिए, अधिक पूर्ण सिद्धि के मार्ग मे जाता है।

इसके पूर्व कि हम उन अनेक वर्णो की व्याख्या आरम्भ करें जिन मे कि ओम शब्द बना है मन की चेष्टा के आविष्कार की चार अवस्थाओं का स्थूल रीति से वर्णन कर देना उपयोगी होगा। परब्रह्म एक आत्मा है और इस

आत्मा को साक्षात् करने के लिए हम को उसकी बाह्य अभिव्यक्तियों से उत्तरोत्तर अन्तरीय और अधिक अन्तरीय अभिव्यक्तियों की ओर जाना है यहां तक आदि कारण, आत्मा, मिल जाय। कदाचित् मानवीय आत्मा की क्रिया के दृष्टान्त से इस बात के समझने में आसानी हो जायगी। परन्तु यह स्मरण रहे कि दृष्टान्त चाहे कैसा ही उत्तम क्यों न हो फिर भी यह दृष्टान्त ही है, ठीक आनुरूप्य नहीं।

आओ हम घड़ी बनाने वाले का उदाहरण लें। उस ने घड़ी को बनाया है और जो नियम घड़ी में मिलाये गए हैं वे अपना ठीक ठीक कार्य कर रहे हैं। कमानी, तुला, चक्र, और कला के अन्य भाग सब अपने अपने यथार्थ व्यापार कर रहे हैं। घण्टों और मिनटों की सूइयां नियमपूर्वक चल रही हैं। वास्तव में घड़ी बनाने वाले की न केवल निपुणता, चतुराई, और कार्यसाधक-शक्ति ही घड़ी में संयुक्त और उस पर अंकित है प्रत्युत वे सब भौतिक शक्तियाँ और शिल्पिक नियम जो कि घड़ी बनाने वाले के अधीन थे वस्तुतः घड़ी में विद्यमान् हैं और नियत भागों की ठीक ठीक और नियमित गति से प्रकट हो रहे हैं। घड़ी बनाने वाले की निपुणता की यह पहली, सब से बाहरी, और सब से प्रत्यक्ष अभिव्यक्ति है। इस प्रकार आत्मा प्रकृति पर बाहर से अपनी छाप लगाता है। इसी को अनुवाद भाग में 'जागृत अवस्था" या आत्मा की सत्ता की बाह्य पदार्थों में प्रतीति कहा गया है।

दूसरे, संसार में पहले ही पहले जो मनुष्य घड़ी बनाने बैठा होगा उस ने घड़ी बनाने के पहले अपनी कल्पना में घड़ी का चित्र बना लिया होगा। उसे अवश्य ही पहले से लचक के नियम और उसकी कालसमता का ज्ञान होगा। वह जानता होगा कि घड़ी के पय्यों और दन्दानेदार चक्रों की गतियों के संचालन का क्या नियम है। वह निःसरण (Escapement) के सिद्धान्त से परिचित होगा। साथ ही वह फ़ूलाद, लोहे, पीतल, और रत्नों आदि के रगड़, लचक, और अन्य विशेष गुणों को जानता होगा। और उसने निश्चय ही अतीव धैर्य्य के साथ शनैः शनैः इन सर्व नियमों के उपयोग की युक्ति तैयार की होगी जिस से इन सब के संधान से एक विशेष उद्देश सिद्ध हो सके। उसने कई विन्यासों की उत्तमता और न्यूनता पर विचार किया होगा और उन में से एक प्रबंध को दूसरे से उत्तम समझकर अङ्गीकार किया होगा। यहाँ तक कि उसने घड़ी बनाने की एक पूर्ण युक्ति अपनी कल्पना में निश्चित कर ली होगी। उसने अपनी कल्पित घड़ी मन ही मन में देखी होगी कि धीरे धीरे चलती हुई अन्त को ठहर जाती है और दुबारा चलने के लिए उसे

चाभी देने की आवश्यकता होती है । सारांश यह कि घड़ी बनने वाले ने अपनी विद्या के मिश्रित कोषागार से जानकारी की प्रयोजनीय बातें निकाल ली होंगी; उनका यथार्थ रीति से उपयोग किया होगा, और कुछ काल तक वह अपने बनाए हुए रचना-चित्र में निमग्न रहा होगा । इस के उपरान्त ही वह वस्तुतः घड़ी बनाने में प्रवृत हो सका होगा। इसी को "**चिन्तन या स्वप्न अवस्था**" अर्थात् आत्म सत्ता की चित्र रचने वाली अवस्था कहते हैं ।

तथापि इतना ही नहीं। एक समय था जबकि इस रचना-चित्र की कोई कल्पना या चिन्ह घड़ीकर्त्ता के मन में विद्यमान् न था । उसका मन एक ऐसी मिश्रित जानकारी का एक कोषागार था, जिसकी कि सुव्यवस्था वा उपयोग न हुआ था। उसका ज्ञान केवल उन नियमों तक ही परिमित न था जिन को कि उसने घड़ी में इकट्ठा किया था। कदाचित् वह नक्षत्रविद्या, पदार्थविज्ञान, मनोविज्ञान, गणित, सौन्दर्यविज्ञान, रसायन शास्त्र, वैद्यक, और निदान शास्त्र भी जानता हो । उसकी विद्या का केवल एक तुच्छ भाग प्रकाशित और उपयुक्त हुआ था। उस विद्या के मुकाबले में जोकि वस्तुतः उप-योगी बनाई गयी उस की सारी विद्या एक विश्वकोश के समान थी। और फिर भी क्या उसे सर्वकाल में उस बृहत् विद्या का अभिज्ञान था जोकि नित्य उस के संग रहती थी ? निस्सन्देह बिलकुल नहीं ! उज्ज्वल स्मृति या व्यावहारिक आवश्यकता की घड़ियों में उस के संग्रहीत अनुभव के केवल कुछ भाग ही उद्भासित हुए और उसके मानसिक नेत्रों के सामने पंक्तिबद्ध होकर चेतन मंडल में आये। परन्तु उस के प्रत्यक्ष ज्ञान का एक बड़ा भाग अभी तक भी ठोस, घनीभूत, और छिलके के भीतर बन्द वस्तु के टुकड़ों के सदृश उसके मस्तिष्क या ज्ञानाशय की सुप्त, शान्त, और नीरव कोठड़ियों मे गुप्त संस्कारों के रूप में सो रहा था । वह इच्छानुसार बुलाया या बाहर निकाला जा सकता था। वह उस के मन का अदृश्य अतिथि था और बहुत करके पीछे हटकर रहता था। उसको एकदम पहचानना कठिन था, क्योंकि वह स्मृति की कोठड़ियों पर लटकने वाले विस्मृति के उत्कृष्ट और तमोमय आवरण में छिपा था। इस दशा को **सुषुप्ति अवस्था** या आत्म सत्ता का निर्व्यापार रूप कहा गया है।

जागरित अवस्था से परे अर्थात् मन की क्रियावान् अभिव्यक्तियों से परे जोकि भौतिक पदार्थों और दृश्य--चमत्कारों में, जादू की लालटैन से

निकल कर आदेशक परदे पर पड़ने वाले ऐंद्रजालिक आलोक के समान, प्रकाशित हो रही हैं; स्वप्न अवस्था से परे या मानसिक चेष्टाओं के प्रबल प्रपंच से परे, जिन में कि मन कभी भावों के एक समूह का और कभी दूसरे का सूक्ष्म निरीक्षण और कभी उनका निर्वाचन और कभी व्यवस्थापन करता है, यहाँ तक कि, जैसाकि स्वप्न में होता है, विचित्र रँगों से बना हुआ एक ऐसा चमकीला भड़कीला चित्र मन के सामने आ उपस्थित होता है कि वैसा पहले कभी कल्पना में भी न आया था; सुषुप्ति अवस्था से परे, या मानसिक क्षमताओं के निष्क्रिय विश्राम के परे जोकि स्पर्शादि इन्द्रियजन्य-क्रिया से पूरित, और प्रतिक्रिया के सर्वव्यापक नियम से अलंघनीय विश्राम में रहने के लिए बाधित है—इन के परे और इन के पीछे, इन दृश्यमान क्रियाओं और निष्क्रिय रूपान्तरों से बहुत बहुत दूर परे, सत्ता, तत्व, सार आत्मा, स्वयं घड़ीकर्ता निवास करता है। इसी का नाम आत्म सत्ता का "यथार्थ स्वरूप" है।

आओ हम आत्म-सत्ता की चार अवस्थाओं अर्थात् जागृत, स्वप्न, सुषुप्ति, और तुरीय को भली भाँति समझ लें। मनुष्य अपने जीवन में अपनी आत्म-सत्ता की यह अवस्थायें प्रतिदिन दुहराता है। जब दिन का प्रकाश चारों ओर फैल जाता है और मनुष्य का आत्मा पूर्ण रूप से जाग उठता है, और आँख रङ्गों को देखती, कान शब्दों को सुनता, नाक वाष्पों को सूङ्घता, जीभ रसों को चखती और शरीर ठोस पदार्थों को स्पर्श करता है, उस समय वह भौतिक पदार्थों में लिप्त हो रहा है। यह जागरित अवस्था है। जब अन्धकार छा जाता है, और दिन का प्रकाश नष्ट होजाता है, और जब दिन भर का थका माँदा किसान घर का रास्ता लेता है, या जब कदाचित् ज्ञानशून्य मज़दूर अपने श्रम की थकावट को मदिरा का प्याला पीकर दूर करने का यत्न करता है—उस समय कारोबारी संसार आराम करता है, और उसी प्रकार हमारा आदर्श-मनुष्य आराम करता है। वह अपने पलङ्ग पर पैर सीधे पसार कर लेट जाता है। उसकी आँखों के पलक बंद होजाते हैं मानों उन पर कोई भारी बोझ आ पड़ा हो, और धीरे धीरे अवशेष इन्द्रियाँ विश्राम करने लगती हैं, और हमारा आदर्श-मनुष्य सो जाता है। कदाचित् वह स्वप्न देख रहा है। मान लीजिए कि वह विद्यार्थी है। उसके विद्यालय की ठोस दीवारें वास्तव में उस की दृष्टि से लुप्त हो गई हैं क्योंकि वह जाग नहीं रहा है। उस के पास न कोई पोथी है और न कोई सहपाठी या सखा। वह अकेला ही अपनी खाट पर लेटा हुआ है। फिर भी वह स्वप्न देख रहा है। परीक्षा भवन उसके सामने चित्रित है। उस में विद्यार्थियों की एक बड़ी संख्या विद्यमान है। वह स्वयं भी उन में

बैठा है। एक परचा आज, एक कल और एक परसों बाँटा गया है [सब स्वप्न में ही] परीक्षा-फल की बड़ी व्यग्रता से प्रतीक्षा करता हुआ वह घर लौटता है। लीजिए ! किसी समाचार पत्र का एक लेख या किसी मित्र का एक तार उसे सफलता का आनन्द समाचार, या, कदाचित्, उसकी विफलता की खबर लाता है। स्वप्न के रहस्य अद्भुत हैं। यह स्वप्न अवस्था के सदृश है। स्वप्न के शीघ्र ही पश्चात्, या स्वप्न रहित होकर, उसे गाढ़ निद्रा आ जाती है। वह जीती जागती वाणी और वह क्रियावान मस्तिष्क कहाँ है ? वे स्वप्नमय असार चित्र कहां है ? क्या वे अंतर्धान होगये, या शून्यत्व को प्राप्त होगए, या विनष्ट हो गए ? यद्यपि वे शरीर मे अदृश्य रूप से स्थित हैं फिर भी उन के प्रकट होने की सम्भावना है। उस सम्भावना को इस समय जमी हुई और मूर्तिमान् समझना चाहिए। यह सुषुप्ति अवस्था है। जीवन की तरङ्ग कैसे प्रचंड वेग से बहती है। जागृत चेष्टा के दिन और घबराहट या गाढ़ निद्रा की रातें बराबर गुज़रती चली जाती हैं। तथापि इन परिणामी दृश्यो और परिवर्तनशील अभिव्यक्तियों के बीच मनुष्य एक प्रकार की स्वतंत्रता, या अपना कूटस्थ स्वरूप बनाये रखता है क्योंकि वह यथार्थ सत्ता है जिस को कि उपर्युक्त अवस्थायें लिप्त नहीं करतीं।

प्रिय पाठक ! सन्देह न कीजिए, आत्मा इन्हीं चार अवस्थाओं मे विद्यमान् है। जागृत अवस्था सब से बाह्य, स्वप्नावस्था अधिक अन्तरीय, और सुषुप्ति उस से भी अधिक अभ्यन्तर है, यहां तक कि हम सब से अन्तरीय तत्व, अर्थात् शुद्ध आत्मा, के पास जा पहुँचते है। इसी प्रकार ईश्वरीय आत्मा जो कि इस से कहीं बढ़कर दिव्य, पवित्र और अनन्त है, प्रज्ञानघन अर्थात् नियमों की मूर्ति है, और सारे बाह्य जगत् को जीवन, चेष्टा और आकार प्रदान करता है। ईश्वर की प्रथम झलक जो शुष्क वैज्ञानिक मन को देख पड़ती है वह अत्यन्त बाह्य प्रकार की है, वास्तव में यह भौतिक गतियों के परस्पर संयोजन, उनकी नियमपरता, सामंजस्य, एकरूपता, और ऐसे ही अन्य लक्षणों से उत्पन्न होती है जो कि यह जगत् कार्य्यों-के-अध्ययन-में-निपुण मनुष्य को दिखलाता है। मन को इनका भली प्रकार ज्ञान होजाने के उपरान्त उसे सृष्टि की अन्तरीय रचना का दार्शनिक अनुभव प्राप्त होता है। इस अनुभव के द्वारा मन उच्चतर अवस्थाओं तक पहुँचता है यहां तक कि रचना ईश्वर की स्वाभाविक और प्राकृतिक प्रवृत्तियों का, जिन्हें नियम कहते हैं, फल प्रतीत होती है। इन नियमों को आधार मानकर चिन्तन करने से मन सर्व नियमों के स्रोत की ओर उड़ता है जो कि यथार्थ परमात्मा है और जिस एक में कि सब कुछ प्रतिष्ठित है।

ये वह क्रमिक पाद हैं जिन के द्वारा मनुष्य सनातन, सर्वव्यापक परमात्मा का ध्यान करने के योग्य होता है। एकाक्षर ओं जो कि अ, उ, और म् इन तीन वर्णों का बना है उस ध्यान का साधन बनाया जाता है। क्योंकि अ जागृत अवस्था को, उ स्वप्न को, और म् सुषुप्ति को केवल स्मरण रखने के लिए कल्पित चिन्हों के तौर पर ही नहीं किन्तु अपने अन्तर्निरूढ़ अर्थों के कारण प्रकट करता है। इसलिए सच्चा उपासक ओं का जप करते समय उन तीन वर्णों पर विचार करता है जिन से कि ओं बना है। वह प्रत्येक वर्ण के अर्थ और अभिप्राय को सोचता है जिस से कि उसके अनुरूप एक अवस्था प्रकट होती है। और इस प्रकार वह उत्तरोत्तर सृष्टि के क्रम और नियमपरता में, सृष्टि को गति देने वाले संकल्प में, और रचना को स्वाभाविक और प्राकृतिक रीति से पूर्ण बनाने वाले नियमों में निमग्न होता है। क्योंकि इस प्रकार चिन्तन की हुई सब से प्रथमावस्था सृष्टि-नियम की सब से बड़ी व्यापकता को प्रकट करती है, इसलिए इसका चिन्तन मुख्यतः एकाग्रता को बढ़ाने वाला माना गया है। फिर मन की एकाग्रता ध्यान को सुगम करती है, यहां तक कि अन्त को दोनों की क्रिया और प्रतिक्रिया से परमेश्वर की ज्योति योगी के हृदय में पूर्ण रूप से चमकने लगती है। अतएव महर्षि व्यास ने कहा है—

"स्वाध्यायाद्योगमासीत योगात् स्वाध्यायमामनेत्।
स्वाध्याय योग सम्पत्त्या परमात्मा प्रकाशते।"

अब हम अ, उ, और म् तीन वर्णों की व्याख्या करते हैं।

अ के गूढ़ अभिप्राय का ध्यान करते समय योगी अपने मन में सृष्टि के महान् विस्तार को देखता है, जिसमें कि महाशक्तिशाली नक्षत्र अपनी अपूर्व प्रभा के साथ शून्य मार्गों में निर्विघ्न चक्कर काटते हुए अनन्तता के समुद्र में ईथर (आकाश) के अदृष्ट और अत्यन्त सुन्दर तरङ्ग उत्पन्न करते हैं। वह सृष्टि के महान् अर्थ का चिन्तन करता है, क्योंकि उपनिषद् के शब्दों में, सृष्टि का महान् विस्तार सनातन, सर्वव्यापक सत्ता के स्वभाव और गुणों का व्याख्यान रूप है। सृष्टि उसकी दिव्य दृष्टि में नियत अङ्गों वाली एक विशाल रचना प्रतीत होती है। इस रचना का समक्षेत्र ऐसा एकरूप है कि अत्यन्त दूरस्थ नक्षत्रों की—जिनके प्रकाश को यद्यपि ईथर (आकाश) के शीघ्रगामी पङ्खों पर सवार होकर १८०,००० मील प्रति सेकण्ड के अलौकिक वेग के साथ दौड़ते हुए आज लाखों वर्ष व्यतीत हो चुके हैं पर वह अभी तक भी हमारे लोक के वायु मण्डल में घुस नहीं सका है—नहीं नहीं, प्रत्युत उनसे भी दूरस्थ तारागण की रचना भी भीतर से उसी विधि से हुई है जिससे कि सौर जगत्, जिसका कि हमारी पृथ्वी एक भाग है, बना है। ब्रह्माण्ड की इस सुनियम

और ज्ञानमय रचना का–जो रचना कि पृथ्वी के सर्वोत्कृष्ट प्राणी, मनुष्य, के समान पूर्ण, और जो ब्रह्माण्ड के इस अद्भुत जीव (मनुष्य) के सदृश मस्तिष्क, आमाशय, पैर, और अन्य अवयव रखती है—ध्यान करने के लिए आओ हम अथर्ववेद के निम्नलिखित अति श्रेष्ठ मंत्रों पर विचार करें जिनमें कि इस विश्व की रचना का जिसका नमूना कि यह हमारा सौर जगत् है, वर्णन है—

यस्य भूमिः प्रमान्तरिक्षमुतोदरम् ।
दिवं यश्चक्रे मूर्द्धानं तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नमः ॥
यस्य सूर्य्यश्चक्षुश्चन्द्रमाश्च पुनर्णवः ।
अग्निं यश्चक्र आस्यं १ तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नमः ॥
यस्य वातः प्राणापानौ चक्षुरङ्गिरसो भवन् ।
दिशो यश्चक्रे प्रज्ञानीस्तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नमः ॥

अथर्व०काण्ड१०, प्र०२३, अनु०४, मंत्र३२,३३,३४ ।

अर्थ—हम उस परम पूज्य परब्रह्म के पास (अपने ध्यान में) अत्यंत पूजा भाव के साथ जाते हैं जिसने ब्रह्माण्ड के इस ढांचे को अपने अस्तित्व का एक सजीव प्रमाण और अपने स्वभाव तथा गुणों का एक अत्यंत अनुरूप पाठ बनाया है, और जिसने इस अद्भुत रचना में (१) सूर्य्य को उसके प्रकाशमान् वायुमण्डल सहित मस्तिष्क का, (२) सूर्य्य और पृथ्वी के मध्यस्थ अन्तरिक्ष को उदर का, और (३) पृथ्वी (सब नक्षत्रों के नमूने) को नीचे के शरीर या पैरों का स्थान दिया है। हम उस परम सत्ता का पूजन करते हैं जिसकी सृष्टि में (४) सूर्य्य और चांद दो आंखें हैं, और (५) ताप मुख है । हम उस परमेश्वर की आराधना करते हैं जिसने (६) वायु मण्डल को उस रचना के फेफड़े और (७) दिशाओं को उसके कान बनाया है। आओ हम उस अनन्त, और सब विद्याओं के स्रोत परमात्मा की उपासना करें।

यहां उपासक के ध्यान के लिए सृष्टि रचना की पूर्ण व्यवस्था दिखलाई गई है। क्योंकि, क्या सूर्य्य अपने वायुमण्डल सहित इस रचना का मस्तिष्क नहीं है ? मनुष्य-शरीर में मस्तिष्क, जिसका पारिभाषिक नाम बृहत् मस्तिष्क और लघु मस्तिष्क है, संशोधित सूक्ष्म तत्त्वों से बना है, वह प्राणभूत शक्तियों का उत्पादक और नाड़ी-संबंधी बल का स्थान है, वह शरीर के सभी व्यापारों और गतियों का नियन्ता है। सूर्य्य भी, मस्तिष्क के सदृश, संशोधित सूक्ष्म तत्त्वों का संचय; चुम्बक, विद्युत्, रूप, उष्णता, गति, और

किरणविकिरण-विषयक शक्तियों को उत्पन्न करने वाला अत्यन्त प्रबल यंत्र; दाह्य और वृद्धिशील बल और उस बल का आश्रय जिसे भूगर्भशास्त्र की परिभाषा में "सबटरियल डीन्यूडेशन" या 'भूमिस्थ पर्वत सङ्घर्ष' कहते हैं, और नक्षत्र तथा धूम्रकेतु सम्बंधी सर्व गतियों का नियन्ता है। वायु मण्डल से परिपूर्ण अन्तरिक्ष वस्तुतः आमाशय, या भोजन को पचाने वाला करण है, जो कि उन पदार्थों को सूक्ष्म और संशोधित करता है जो कि उसे दिए जाते हैं। वायुमण्डल में ही बादल बनते, भाफ सूक्ष्म होतीं, बिजली की धाराएं उत्पन्न होतीं, पार्थिव लवण और धातुओं के बाह्य कण वाष्प रूप में उड़ते हैं, और इन सर्व क्रियाओं के फल फलते और मिश्रित होते हैं, यहां तक कि सब कुछ मिलकर एक समभाव तरल पदार्थ बन जाता है, और वायु-मण्डल के निचले स्तरों से ऊपर चढ़कर जम जाता है, और वहां से फिर निर्मल, महोपयोगी, वनस्पति-जीवनदाता वर्षा के रूप में बरसता है। ठीक इसी प्रकार आमाशय उसमें पड़ने वाले भोजन को सूक्ष्म और शुद्ध करके इसके रसाल अंशों में से अरुण प्राणभूत रस के तत्त्व निचोड़ लेता है, और वर्षा के सदृश हृदय पर बरसाता है। परन्तु आमाशय में प्रवेश करने से पूर्व पदार्थों को मुख में से गुज़रना पड़ता है। मुख अपने जबड़ों की सहायता से ठोस भोजन को बारम्बार चबाता है यहां तक कि वह बारीक होकर और थूक के साथ मिलकर एक तरल पदार्थ बन जाता है। इसी प्रकार पार्थिव पदार्थ वायुमण्डल रूपी आमाशय में प्रवेश करने के पहले, ताप रूपी मुख में से गुज़रते हैं। क्योंकि वह कौनसी नाली है जो पार्थिव पदार्थों को उच्चतर मण्डलों में ले जाती है? वह क्या है जो पृथ्वी के दृढ़ ठोस पदार्थों को पीसता, छिन्न भिन्न करता, और भाफ के समान सूक्ष्म बना देता है। या वह क्या है जो इन पदार्थों को प्रकृति के थूक अर्थात् जल में घोल देता है? यह सारा काम ताप करता है। ताप के चंचल, प्राणप्रद, और थरथराने वाले विकंपनों के वशीभूत होकर ठोस पदार्थ तरल, और तरल पदार्थ वाष्प बन जाते हैं। ताप से ही, इस प्रकार सूक्ष्म बने हुए वाष्पमय परमाणु उष्णता के पङ्खों पर सवार होकर ऊपर के अपेक्षाकृत शीतल मण्डलों में ले जाय जाते हैं। ताप ही तरल सरोवर में से वायुमण्डल के जलमय तत्त्वों को चाट जाता है। जिस प्रकार मुख भोजन और आमाशय के मध्यस्थ है ठीक उसी प्रकार ताप पार्थिव पदार्थों और वायुमण्डल के मध्यस्थ है। पैर शरीर का सब से निचला भाग है। यह मस्तिष्क रूपी सिंहासनारूढ़ राजा की आज्ञानुवर्तिता का चिह्न है यह उस गतिजनक आवेग की आज्ञा का पालन करता है जो कि नाड़ियों के द्वारा मस्तिष्क उसके पास भेजता है। इसी प्रकार पृथ्वी अन्तरिक्ष के आकाशमय मार्गों के द्वारा उस तक

पहुंचने वाले सूर्य्य के प्रभाव को मानती है। मनुष्य के शरीर में नेत्र इसलिए बने हैं जिससे वह रङ्गों को देखने और सुन्दरता को परखने में समर्थ हो।

इसी प्रकार सूर्य्य के प्रकाश की किरणें, जिन को मंत्र में अङ्गरिस कहा है, दृश्यमान् जगत् को प्रकट करती हैं, इस प्रकार सृष्टि मे उन का वही सम्बंध है जो कि आँख का मानव देह से है। मनुष्य के फेफड़े न केवल धौकँनी के समान पवन को भीतर लेजाने और फिर उसे बाहर निकाल देने, या रक्त में आकसीजन नाम्नी शुद्ध वायु मिलाने के ही योग्य हैं, प्रत्युत वे मस्तिष्क को प्रत्यक्ष रूप से बलप्रदान करने वाले अदृश्य तत्त्वों को भी भीतर खींचने में समर्थ हैं। इसी प्रकार वायुमण्डल न केवल वाष्पाकार कणों को आकर्षित करने या उड़ते हुए पार्थिव कणों को दूर हटाने के ही योग्य है प्रत्युत वह पृथ्वी से, विशेषतः दोनों ध्रुवों पर, मानों दोनों रक्तकोषों (फेफड़ों) से, ऋणात्मक और धनात्मक बिजली की धाराओं को खींचने में भी समर्थ है। बिजली की ये धारायें पृथ्वी को सदा के लिए छोड़ जाती हैं।

इसलिए दृष्टान्त* प्रत्येक युक्त रूप में पूर्ण है। ध्यानावस्थित उपासक को सारा ब्रह्माण्ड सिर, प्राण, नाभि, मुख, नेत्र, श्रोत्र, और पाद प्रतीत होता है। और इस प्रकार मानव-शरीर की रचना हुई है। मुख की आमाशय से, आमाशय की फेफड़ों से, फेफड़ों की मस्तिष्क से, और मस्तिष्क की सारे शरीर से।

* पाठक के चित्त पट पर इस भाग को अङ्कित करने के लिए हम वैदिक साहित्य के भिन्न भिन्न भागों से इसी प्रकार के थोड़े से भिन्न भिन्न चित्रों का केवल सादृश्य उपस्थित करेंगे जिससे वह प्रकृति की रचना की कुछ व्यापक और साधारण कल्पना कर सके, और सादृश्य को सादृश्य ही समझे, न कि कुछ और। हम यजुर्वेद अध्याय ३१, मन्त्र १३ उद्धृत करते हैं—

नाभ्या आसीदन्तरिक्षꣳ शीर्ष्णो द्यौः समवर्त्तत।
पद्भ्यां भूमिर्दिशः श्रोत्रात्तथा लोकाँ २॥ अकल्पयन्॥

अर्थ—"परमेश्वर ने अन्तरिक्ष को आमाशय, सूर्य्य को सिर, पृथ्वी को पैर, और अवकाश अर्थात् दिशा को कर्णपुट के सदृश बनाया है।" मुण्डकोपनिषद द्वितीय मुण्डक प्रथम खण्ड के चतुर्थ मंत्र में लिखा है—

अग्निर्मूर्द्धा चक्षुषी चन्द्रसूर्य्यौ दिशः श्रोत्रे वाग्विवृताश्च वेदाः।
वायुः प्राणो हृदयं विश्वमस्य पद्भ्यां पृथिवी ह्येष सर्वभूतान्तरात्मा॥

अर्थात्—सब पदार्थों के भीतर निवास करने वाले सनातन परमात्मा ने अग्नि को सिर के स्थान में, सूर्य्य और चन्द्र को दोनों नेत्रों के स्थान में, दिशाओं को कानों के स्थान में, रखा है। वेद उस के बोलने की इन्द्रिय, वायुमण्डल उसके फेफड़े, सारा विश्व उसका हृदय, और नक्षत्र उसके पैर हैं। इस प्रकार वह सब में व्यापक है।

पूर्ण उपयुक्तता का अनुभव करने, और साथ ही उसी के अनुरूप सृष्टि के अङ्गों का परस्पर संयोजन साक्षात् कर लेने से क्या उपासक सर्वव्यापक, सनातन परमात्मा को, जो कि अपनी अभिव्यक्तियों में ऐसा तेजोमय है, एक क्षण के लिए भी भूल सकता है! आओ हम जिज्ञासा करें कि क्या मनुष्य-शरीर में भी मस्तिष्क. फेफड़े, आमाशय, और दूसरे भाग व्यर्थ हैं, या भौतिक, जड, और शरीरशास्त्र-सम्बन्धी सब के सब व्यापारों को जड़ प्रकृति के अंशों की तरह केवल अबोधपूर्वक करने के लिए ही बने हैं? क्या अङ्गों का यह सुन्दर संयोजन केवल दैवात् होगया है या केवल "परमाणुओं के आकस्मिक सङ्गम" का फल है? क्या प्रकृति की अंधी शक्तियां विना सोचे समझे ही आपस में मिल गई, और क्या आकस्मिक, अज्ञात, और अकथनीय टक्करों के उपरान्त उनके परस्पर आलिङ्गन से ही बाहर से ऐसा सुन्दर प्रतीत होने वाला मानव शरीर बन गया? नहीं, व्यापारों का यह संयोजन व्यर्थ नहीं। मस्तिष्क, मुंह, आमाशय, फेफड़ों, पैरों, आंखों, और कानों, का बना हुआ यह मन्दिर, केवल एक नाटक भवन है। इसके कमरों का परस्पर सम्बन्ध कारीगर ने बड़ी चतुराई से रक्खा है। निस्सन्देह, शिल्पी ने इसे किसी के अभिनय के लिए बनाया है। तब इस मानव-रचना रूपी रँगमञ्च पर खेल करने वाले नट कौनसे हैं? इस में सन्देह नहीं कि नट हैं पर वे यथोचित और सुनियंत्रित रँगमञ्च के विना अपनी निपुणता और चातुर्य नहीं दिखला सकते। वह नट ये हैं—

पांच ज्ञान इन्द्रियां अर्थात् सुनने, छूने, देखने, चखने, और सूँघने की इन्द्रियां; पांच कर्म इन्द्रियां अर्थात् हाथ. पैर, कण्ठ, गुदा और उपस्थ; पांच जीवन-भूत नाडीजन्य शक्तियां या प्राण, अर्थात् प्राण, अपान, समान, उदान, और व्यान; मन अर्थात् अन्तःकरण जिस में बाह्य जगत् के साथ व्यवहार करने की इच्छा उत्पन्न होती है और जो कल्पना शक्ति प्रकट करता है; बुद्धि अर्थात् निश्चय करने की शक्ति; चित्त अर्थात् स्मरण शक्ति, और अहङ्कार अर्थात् व्यक्तित्व और अभिमान का कारण जीवन-रूपी नाटक में उन्नीस अदृश्य नट हैं। मनुष्य की आत्मा, शरीर-मन्दिर में से, अपनी इन्द्रियवृत्ति, गति, स्मृतिक अनुभव, कल्पना, प्राण, निश्चय, और अहङ्कार की शक्तियों को प्रकट करती है। क्योंकि जब तक शरीर के विविध अङ्ग परस्पर उपयुक्त न हों, अर्थात् एक अङ्ग दूसरे अंग की आवश्यकता को पूरा न करता हो, और उनकी परस्पर क्रिया और संघर्षण से उत्पन्न होने वाली यांत्रिक, रासायनिक, और वैद्युत् शक्तियां समावस्थित न हों तब तक जीवन कैसे प्रकट हो सकता है? इसलिए यह आवश्यक है कि शरीर योग्य अवयवों से सम्पन्न हो, इनके विना वह यांत्रिक, रासायनिक, और वैद्युत् शक्तियों को परस्पर समावस्था

में उत्पन्न कर नहीं सकता। इसके अतिरिक्त इन शक्तियों का सुव्यवस्थित होना भी आवश्यक है, तब ही जीवन अपना प्रकाश कर सकेगा। शरीर उस समय तक इन्द्रियानुभव या चलने फिरने की ओर कोई प्रवृत्ति प्रकट नहीं कर सकता जब तक कि जीवन उसे इस प्रकार प्राणयुक्त, लचकदार और संस्कार ग्रहण करने के योग्य न बना दे। जब तक इन्द्रियानुभव का नियम पूर्ण रूप से प्रतिष्ठित न हो ले कल्पना और विषय ग्रहण शक्ति का उदय नहीं हो सकता। विषय ग्रहण शक्ति के प्रयोजनीय, मानसिक विचारों से युक्त होने के पश्चात् ही तुलना और विवेक की शक्तियां कार्य कर सकती और मानसिक संस्कारों को बुनकर जातिनिर्दिष्ट और सांकेतिक भावों के रूप में परिणत कर सकती हैं। इन्हीं भावों को स्मृति ग्रहण करती और बड़ी सावधानता से संचित करती है। और, अन्ततः, अहङ्कार का रहस्य स्मृति की यथार्थ धारणक्षमता पर आश्रित है, क्योंकि इसके सिवा अहङ्कार और है ही क्या कि प्रत्येक मनुष्य का आत्मा अपने सर्वथा विभिन्न अनुभवों के कारण अपने व्यक्तित्व का दूसरों से पृथक् अनुभव करता है। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि शरीर-मंदिर इस प्रयोजन के लिए खूब तैयार किया हुआ एक विशाल रंगमञ्च मात्र है। इस पर मुख्य नाटककर्ता, अर्थात् मनुष्य का आत्मा, अपने प्रतिनिधियों को बारी बारी, एक दूसरे के बाद, नाटक खेलने और रंगमञ्च को दूसरे आने वालों के लिए तैयार करने के लिए भेजता है। शरीर-मन्दिर रूपी रंगमञ्च पर जो पहला प्रतिनिधि आता है वह प्राण है। यह अपना खेल समाप्त करके दूसरे प्रतिनिधि, इन्द्रियानुभव, के लिए स्थान तैयार करता है। वह, फिर अपनी बारी में, अपना खेल पूरा करके, विषयग्रहण शक्ति, तुलना, और स्मृति के बारी बारी आने के लिए स्थान को ठीक करता है, यहां तक कि सब के अन्त में स्वयं मानव आत्मा पूर्णरूप से तैयार रंगमञ्च पर अपनी आत्म सत्ता की शक्तियों का प्रकाश करने के लिए प्रकट होता है। इसलिए यह सुन्दर संयोजन बिना प्रयोजन के नहीं।

जो हाल मनुष्य के आत्मा का है वही हाल ईश्वरीय सत्ता का है। सृष्टि में सूर्य्य, चन्द्र, नक्षत्र, वायुमण्डल और तत्त्वों का यह अद्भुत विधान केवल इस लिए है कि ईश्वरीय आत्मा को अपने सार्वत्रिक जीवन, इन्द्रियवृत्ति, और बुद्धि के सनातन तत्त्वों को प्रकट करने, और अपनी अपौरुषेय सत्ता का बाह्य जगत् में प्रकाश करने के लिए भौतिक तत्त्वों के बने हुए ब्रह्माण्ड रूपी पूर्णतः जीवित और बलवान् शरीर की वैसी ही आवश्यकता है जैसी कि मनुष्य-आत्मा को नर-देह की है। इसीलिए योगी ओं अक्षर की 'अ' मात्रा से आरम्भ करता है; इस के गूढ़ आशय का मन में जप करता है; अपने मानसिक

नेत्रों के सामने महान् सृष्टि की समाङ्ग रचना का चित्र प्रस्तुत करता है; उसके क्रिया-साधक और अङ्ग अवयवमी रचना का ध्यान धरता है; उसकी आवश्यकता, उद्देश, उपयोगिता, और उसके तत्त्व का चिन्तन करता है; और अधिक आन्तरिक और आध्यात्मिक नियमों (उपर्युक्त उन्नीस नियमों) के अस्तित्व का उस पर भारी प्रभाव होता है; ये नियम ऐसे हैं जो कि प्रकट होने के लिए बड़ा बल देते रहते हैं; इसलिए योगी सर्वनियन्ता, सर्वव्यापक आत्मा, वैश्वानर, का ध्यान धरता है, जोकि ओं को बनाने वाले तीन वर्णों में एक वर्ण 'अ' का ठीक ठीक आशय है।

अब ध्यान की दूसरी अवस्था का वर्णन करते हैं। नियम से नियम, और अनियम से अनियम उत्पन्न होता है। प्रकृति पर सुव्यवस्थित शक्तियों की क्रिया का फल सुव्यवस्थित रचना होता है; गड़बड़ शक्तियों का परिणाम केवल गड़बड ही हो सकता है। गणित विद्या इस सिद्धान्त के प्रमाणों से भरी पड़ी है। उदाहरणार्थ किसी वस्तु की एक चक्र में सुव्यवस्थित, एकरूप, नियमित गति को लीजिए। गणितशास्त्रज्ञ लोग कहते हैं कि यह गति अपकेन्द्र और अभिकेन्द्र नामक दो शक्तियों का फल है। यदि घूमने वाली वस्तु का वेग व हो और जिस चक्र अर्थात् वृत्त में वह घूम रही है उस की त्रिज्या त्रि हो तो अभिकेन्द्र शक्ति $\frac{\text{व}^2}{\text{त्रि}}$ होगी। इस प्रकार गणितशास्त्री हमें बताते हैं कि किसी वस्तु के चक्र में घूमते समय उसकी अभिकेन्द्र और अपकेन्द्र शक्तियां एक दूसरे से तुली रहती हैं, और उनका उस वस्तु के वेग तथा उस के मार्ग की त्रिज्या से एक नियत सम्बंध होता है। केवल यह नियत संबंध ही (जिसे इन दो शक्तियों की व्यवस्था भी कह सकते हैं) चक्राकार गति उत्पन्न कर सकता है। एक और परिच्छिन्न संबंध के हो जाने से गति अण्डाकार हो जायगी। अतएव यह स्पष्ट है कि बाह्य दृश्यों के रूप और नियम का कारण अन्तरीय व्यवस्था ही है। इसको अधिक स्पष्ट करने के लिए यों समझिए कि परमाणुओं की आन्तरिक मन्द गति के कारण ही ठोस पदार्थों की उत्पत्ति होती है। वस्तुओं की अन्तरीय चंचलता से ही दृश्य तरल पदार्थ बनते हैं। परमाणुओं की अन्तरीय अत्यंत अस्थिरता के कारण अणुओं के मुक्तमार्ग पर विचरने से ही वाष्पीमयी अवस्था उत्पन्न होती है। अच्छा, इस से भी अधिक सुपरिचित एक और दृष्टान्त लीजिए। बीज अपनी अदृश्य, आन्तरिक रचना के कारण ही उग कर ठीक ठीक अपनी ही जाति उत्पन्न कर सकता है। अन्ततः, मनुष्य, के वीर्य्य के सूक्ष्म कीड़े भी अन्तरीय परन्तु

अदृश्य इन्द्रियविन्यास रखते हैं, क्योंकि वे सजीव शरीर के सर्व अंगों, इन्द्रियों, और कार्य्यक्षमताओं (अङ्गादङ्गात्सम्भवसि-सामवेद) से, प्राणभूत सार अर्थात् वीर्य्य की क्रिया द्वारा निकाले हुए परमाणुओं से बनते हैं। इस अन्तरीय इन्द्रियविन्यास की कृपा से ही ये कीड़े हूबहू मनुष्य-शरीर उत्पन्न करने में समर्थ हैं। अतएव यह स्पष्ट है कि सदैव उत्पन्न करने वाले कारणों की अन्तरीय रचना ही बाह्य दृश्य-जगत् में रूप, नियम, व्यवस्था, या संयोजन उत्पन्न कर्त्ता है। तो क्या यह आवश्यक नहीं कि वैश्वानर रूपी सर्वनियन्ता, सर्वव्यापक ईश्वरीय आत्मा जो अपने इस ब्रह्माण्ड रूपी शरीर-मन्दिर का विशाल और सर्वांग पूर्ण भवन तैयार करता है, आप भी अंगमय और सुव्यवस्थित हो निस्सन्देह ईश्वरीय शक्ति के रचनाकारी, संयोजक, वियोजक, और रूप और आकार बनाने वाले नियमों की क्रिया में सामयिकता लाने के लिए यह आवश्यक है कि उनकी प्रवृत्तियां नियत हों, और उनके अन्दर सहकारी सहानुभूति की नीति काम कर रही हो, जिस से कि वह सामंजस्य, नियमपरता, और सामयिकता उत्पन्न हो जो कि सूर्य्य, चन्द्र, और तारे पृथ्वी और नक्षत्रों के साथ मिल कर दिन और रात, ऋतु और ज्वार भाटा, प्रकाश और अंधकार, उदय और अस्त, ग्रहण और ग्रास, नक्षत्रों और धूम्रकेतुओं के सूर्य्य के अति निकट और अति दूर होने, आगे और पीछे हटने वाली गतियों, और उपग्रहों की कलाओं के घटने बढ़ने की परम्परा में दिखाते हैं। इतना ही नहीं। प्रत्येक जाति के प्राणधारी असंख्य हैं, और फिर क्या वनस्पतियों और क्या जीव जन्तुओं दोनों की जातियां संख्यातीत हैं। प्रत्येक प्राणधारी न केवल बढ़ता, जीवित रहता, और अपनी ही जाति को फिर उत्पन्न करता है प्रत्युत वह अपनी संस्कृति और सूक्ष्मता के अनुसार इन्द्रियवृत्ति, विषयानुभव, निर्णय, स्मृति, और ज्ञान का प्रकाश करता है। इन अद्भुत शक्तियों और चेष्टाओं का प्रकाश कहां से हुआ ? निस्सन्देह जीवन, इन्द्रियानुभव, और बुद्धि रूपी ईश्वरीय तत्त्व अवश्य वैसे ही परस्पर एक-रूप और एक रस ढल कर अन्तरीय शरीर रचना में संयुक्त हुए होंगे; जिस से सजीव प्राणधारियों के ऐसे गुणयुक्त और उपयुक्त शरीर पैदा हो सके। इस के पहले कि सृष्टि की सामग्री का उन सब अङ्गों में विन्यास हुआ जिन से कि सृष्टि का ढांचा बना है, अन्तरीय रीति से सुव्यवस्थित आत्मा, तैजस सृष्टि की रचना विधि का चिन्तन करता था; और इस के पूर्व कि गति के तत्त्वों को प्राणों ने, प्राणों के तत्त्वों को इन्द्रियानुभव ने, और इन्द्रियानुभव के तत्त्वों को बुद्धि ने अलग करके अपनाया जिस से कि शरीरधारियों को विविध प्रकार की कार्य्यक्षमताएं मिलीं, वही ईश्वरीय सत्ता, तैजस, प्राणधारियों की रचना-विधि के विचार में

निमग्न था। सृष्टि की अन्तरीय बनावट में, ईश्वर का उसके नित्य मानचित्रों में ध्यान करना उसका उसकी दूसरी अवस्था अर्थात् चिन्तन अवस्था, (जिस का पारिभाषिक नाम **स्वप्न अवस्था** है) में चिन्तन करना है। क्योंकि जब मनुष्य स्वप्न में मस्तिष्क के चेतन कार्य और चेष्टा से थोड़ा सा निवृत होता है, तो उस पर लोक प्रसिद्ध भौतिक निद्रा आजाती है। इन्द्रियों की चेष्टा जिस से अन्तरात्मा ने बाह्य प्रकृति पर कार्य्य किया होगा, अस्थायी रूप से ठहर गई है, परन्तु फिर भी मन स्थिर नहीं। मस्तिष्क रूपी भवन के अनेक कमरों में किलोलें करता हुआ यह चंचल मन अपने अनुचिन्तत इन्द्रियानुभवों और कल्पनाओं को इकट्ठा करता है, और उस समय इन कल्पनाओं और उन विषयों में जिन की कि ये कल्पनाएं हैं भेद न कर सकने के कारण इन को आपस में ताने बाने की तरह बुन डालता है, और स्वप्न में, उस बुने हुए दृश्य का ऐसी वास्तविक रीति से उपभोग करता है जैसे कि वह प्रकृत विषयाश्रित सामग्री का बना हो। यही बात "स्वप्नावस्था" वा चिन्तनावस्था की है। क्योंकि, यद्यपि हम परमेश्वर को बाह्य प्रकृति पर क्रिया करते और इसको नाना रूपों में विनियुक्त करते नहीं देखते, फिर भी हम उसे, स्वप्नावस्था की तरह, प्रकृति के परमाणुओं को जोड़ते, उन्हें अपने २ स्थानों में संचित और विनियोजित करते, और अन्त को एक सर्वथा पूर्ण मानचित्र आन्तरिक रीति से सोचते देखते हैं। मानों हम परमेश्वर को भौतिक सृष्टि से अलग होकर जगत् की निर्माण-विधि का चिन्तन करते हुए देखते हैं।

परमेश्वर के इस दर्शन के उपरान्त, जोकि ओम् को बनाने वाले द्वितीय वर्ण उ का ठीक ठीक आशय है, योगी तीसरे वर्ण म् का विचार आरम्भ करता है जोकि तीसरी अवस्था, अर्थात् 'सुषुप्ति अवस्था', को प्रकट करता है। हम कह आए हैं कि स्वप्नावस्था में मन मस्तिष्क के चेतन कार्य और क्रिया से अंशतः निवृत होता है। लेकिन जब स्वप्न देखने वाले को गाढ़ निद्रा आ घेरती है तो मन मस्तिष्क से पूर्णतः निवृत्त होकर केवल शारीरिक ढांचे के जीवन को स्थिर रखता, और अपनी आरोग्यकारी और घटनाप्रधान रीतियों से शरीर को बल और पराक्रम प्रदान करता है। यह सारी क्रिया मानों अपने आप विना इच्छा के ही होती है। ऐसे ही आओ हम ईश्वरीय आत्मा का चिन्तन करें। हमें सोचना चाहिए कि जीवन, इन्द्रियवृत्ति, और बुद्धि रूपी ईश्वरीय तत्त्वों को किसने परस्पर योग्य सम्बन्ध में प्रवृत करने का निश्चय किया? किसने ईश्वरीय ज्ञान के तत्त्वों को सिखाया कि वे अपने आप को सृष्टि के पूर्ण रचना मानचित्र में विनियुक्त और सुव्यवस्थित करें? मानव मन में

नवीन विचारों की विभावना और नवीन कल्पनाओं की उत्पत्ति या तो शिक्षा के प्रभाव से, या किसी भारी आवश्यकता की प्रेरणा से, या कभी कभी सम्भवनीय अग्रचिन्ता के कारण होती है। लेकिन ईश्वरीय मन शिक्षा, आवश्यकता और अग्रचिन्ता के उन नियमों के अधीन नहीं जोकि नश्वर मनुष्य पर शासन करते हैं। ईश्वर का नियम उसका अपना ही स्वरूप है। किसी बाह्य प्रेरणा के संस्कार और किसी अभावजन्य आवश्यकता के दबाव के बिना केवल सहज सर्वज्ञता और स्वाभाविक स्वयंसिद्धता से ही ईश्वरीय सङ्कल्प के तत्त्व व्यवस्था या रचना-चित्र में प्रवृत्त हुए थे। या उपनिषद् के शब्दों में—

"न तस्य कार्य्यं करणं च विद्यते न तत्समो नाभ्यधिकश्च दृश्यते।
परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते स्वाभाविकी ज्ञान बल क्रियाच।"

"महान् सनातन आत्मा में कोई परिवर्तन नहीं होता, कार्य्य करने के लिए उसे किसी साधन का प्रयोजन नहीं, न कोई उसके तुल्य है, और न कोई उस से अधिक है। वह सर्वोत्तम शक्तिशाली सत्ता है, उस में सहज सर्वज्ञता, सर्वशक्तिमत्ता, और चेष्टा है।" जिस प्रकार गाढ निद्रा में रक्त की गति, प्राण यात्रा, और शरीर की क्लान्ति को दूर करने वाली क्रियाएं, सब की सब जागृतावस्था से भी अधिक नियमपरता, सामंजस्य, और स्वाभाविकता के साथ, मानव आत्मा के शरीर के साथ संसर्ग मात्र से ही, होती रहती हैं, और उन्हें आत्मा की केवल स्वाभाविक चेष्टा के बिना और किसी सङ्कल्प या आलेख्य की आवश्यकता नहीं होती; उसी प्रकार सुषुप्ति अवस्था में परमात्मा की सर्वशक्तिमत्ता, सर्वज्ञता, और सर्वकर्तृत्व का, अत्यन्त नियमपरता, सामंजस्य और पूर्णता के साथ, बिना इच्छा के प्रयत्न अथवा मस्तिष्क के दीर्घ परिश्रम से तैयार किए नकशे के, केवल उन सनातन, स्वतः-ज्ञानवान् नियमों और भावों की स्वाभाविक क्रिया से, जिनकी मूर्ति कि वह आप है, प्रयोग करते हुए देखा जाता है। ईश्वरीय आत्मा में स्वाभाविक चेष्टा मानने से मनुष्य की आत्मा को सान्त्वना मिलती है: क्योंकि यह विश्वास अदृष्टवाद या प्रारब्धवाद की बुराइयां पैदा न करके उन स्वतः ज्ञानमय नियमों की सहज बुद्धि में दृढ़ श्रद्धा पैदा करता है जो कि मानो ईश्वरीय रूप में मूर्तिमान और घनीभूत हैं।

इस विषय को दूसरी प्रकार से समझने के लिए, आओ सोचें कि शारीरिक नेत्र बाह्य पदार्थों को कैसे प्रतीत करते हैं। आंख की इन्द्रिय फोटोग्राफी की अंधेरी संदूकची (केमरा ऑबसक्योरा) के सदृश, उसका जलमय रस

स्फटिकवत् लेञ्ज शीशे के सदृश, और काच सदृश रस उस लेञ्ज शीशे का काम देता है जिसमें से कि प्रकाश की किरणें मुड़ जाती हैं, और रूप ग्रहण करने वाली अन्तरीय नाड़ी का सिरा (रेटिना) फोटोग्राफी के कैमरे के उस शीशे के सदृश है जिस पर कि प्रतिबिम्ब बैठ जाता है। जिस प्रकार किसी वस्तु का स्पष्ट चित्र लेने के लिये उसका प्रतिबिम्ब किसी एक बिन्दु पर जमाना आवश्यक होता है, उसी प्रकार चक्षुअङ्ग की संयुक्त झिल्लियां एक बिन्दु पर प्रतिबिम्ब लेने वाले यंत्र हैं जिनसे कि आंख किसी वाञ्छित दूरी पर ठीक करके लगाई जा सकती है। अतएव यदि आंख को केवल एक यंत्र ही समझें, तो इस में फोटोग्राफर की अँधेरी संदूकची से अधिक देखने की शक्ति नहीं। कैमरे के पीछे फोटोग्राफर (चित्र लेने वाला) खड़ा होता है। वह लेञ्जों को ठीक स्थान पर लगाता, प्रतिबिम्ब लेता, और उसे देखता है। यही हाल मनुष्य की आंख का है। भौतिक नेत्र के पीछे रूप को प्रतीत करने, कान के पीछे शब्द को सुनने, और इसी प्रकार प्रत्येक इन्द्रिय के पीछे उसके अनुरूप इन्द्रियानुभव का सच्चा नियम विद्यमान है। जिस प्रकार "कैमरे" के बिना भी फोटोग्राफर में देखने की शक्ति बनी रहती है वैसे ही मनुष्य अपने इस नश्वर शरीर को छोड़ देने पर विद्यानुभव और इन्द्रियानुभव से रहित नहीं हो जाता। मनुष्य की आत्मा इन नियमों की सच्ची मूर्ति है। यही हाल ईश्वरीय आत्मा का है। वह उन सर्व सनातन, अपरिवर्तनीय नियमों का सच्चा स्वरूप है जो कि दृश्य या अङ्गमय रचना के भीतर रहते हैं पर उससे स्वतंत्र हैं, और जो सर्व रचना चित्र की नींव में पाए जाते हैं। वास्तव में वह महान्, सनातन, सर्वव्यापक आत्मा है जिसके विषय में कि उपनिषद् इस प्रकार कहता है—

अपाणिपादो जवनो ग्रहीता पश्यत्यचक्षुः स शृणोत्यकर्णः।
स वेत्ति विश्वं न च तस्यास्ति वेत्ता तमाहुरग्र्यं पुरुषं पुराणम्॥

अर्थात् परमेश्वर के भौतिक हाथ और पैर नहीं परन्तु वह सर्वव्यापकता तथा सर्वशक्तिमत्ता रूपी सहज नियमों के द्वारा सारी प्रकृति को ग्रहण करता और रचता है। उसकी भौतिक आंखें, नहीं लेकिन वह देखता है; उस के भौतिक कान नहीं पर सब कुछ सुनता है: चिन्तन की कोई आन्तरिक इन्द्रिय (अन्तःकरण) नहीं पर वह सब को जानता है और उसे कोई नहीं जानता। वह परमात्मा है जो कि सब में व्यापक है। इसलिए इस अवस्था में परमेश्वर का ध्यान उसे सर्व भावों और नियमों की मूर्ति मानकर किया जाता है। यही सुषुप्ति अवस्था है, यही एकाक्षर ओम् को बनाने वाले तीसरे वर्ण म का आशय है।

चौथा कोई मात्रा या वर्ण नहीं, न ही यह जिह्वा से बोला या उच्चारण किया जाता है, लेकिन सच्चा अनिर्वचनीय नाम है। यह उस तात्त्विक सत्ता, यथार्थ आत्मा, ईश्वरीय आत्मा, अदृश्य, अकाय, लक्षणातीत, अज्ञेय सत्ता को प्रकट करता है जो कि एक अद्वितीय, सर्व प्रपञ्चों से रहित, पूर्ण शान्त और पूर्ण आनन्दमय है। उसे अवश्य साक्षात् करना चाहिए। हमें इस मनोरञ्जक परन्तु अधूरी और आवश्यकता के कारण संक्षिप्त व्याख्या को समाप्त करने के लिए प्रश्नोपनिषद् पांचवें प्रश्न के शब्दों से अच्छे शब्द और नहीं मिलते।

एतद्वै सत्यकाम! परञ्चापरञ्च ब्रह्म यदोङ्कारस्तस्माद्विद्वानेतेनैवायतनेनैकतरमन्वेति ॥ १ ॥ स यद्येकमात्रमभिध्यायीत स तेनैव संवेदितस्तूर्णमेव जगत्यामभिसम्पद्यते। तमृचो मनुष्यलोकमुपनयन्ते स तत्र तपसा ब्रह्मचर्य्येण श्रद्धया सम्पन्नो महिमानमनुभवति ॥ ३ ॥ अथ यदि द्विमात्रेण मनसि सम्पद्यते सोऽन्तरिक्षं यजुर्भिरुन्नीयते। स सोमलोकं स सोमलोके विभूतिमनुभूय पुनरावर्त्तते ॥ ४ ॥ यः पुनरेतन्त्रिमात्रेणैवोमित्येतेनैवाक्षरेण परं पुरुषमभिध्यायीत स तेजसि सूर्य्ये सम्पन्नः। यथा पादोदरस्त्वचा विनिर्मुच्यत एवं ह वै स पाप्मना विनिर्मुक्तः स सामभिरुन्नीयते ब्रह्मलोकं स एतस्माज्जीवघनात्परात्परं पुरिशयं पुरुषमीक्षते तदेतौ श्लोकौ भवतः ॥ ५ ॥ तिस्रो मात्रा मृत्युमत्यः प्रयुक्ता अन्योन्यसक्ता अनविप्रयुक्ताः। क्रियासु बाह्याभ्यन्तरमध्यमासु सम्यक् प्रयुक्तासु न कम्पते ज्ञः ॥ ६ ॥ ऋग्भिरेतं यजुर्भिरन्तरिक्षं स सामभिर्यत्तत्कवयो वेदयन्ते। तमोङ्कारेणैवायतनेनान्वेति विद्वान् यत्तच्छान्तमजरममृतमभयं परञ्चेति ॥ ७ ॥

हे सच्चे जिज्ञासु! ओम् महान् परमेश्वर है। ज्ञानी पुरुष इस ओं से आश्रय पाकर अपने उद्देश को प्राप्त करते हैं। जो ओम् की पहली मात्रा अ, का, अर्थात् परमेश्वर का उसकी जागृत अवस्था में ध्यान करता है वह शीघ्र ही ज्ञानवान् होजाता है, और मृत्यु के बाद भी पुनः सर्वश्रेष्ठ मनुष्य-जन्म पाता है, और अपनी पूर्व उपासना के संस्कारों के कारण तप, ब्रह्मचर्य्य, विद्याध्ययन, और सत्यान्वेषण का जीवन व्यतीत करता है, और इस प्रकार सात्विक परिस्थिति पाकर श्रेष्ठ प्रकृति के सुखों का अनुभव करता है। जो ओम् की दूसरी मात्रा उ का, अर्थात् ब्रह्म का उसकी स्वप्नावस्था में ध्यान करता है, वह कारणों के अन्तरीय लोक की झलक देख लेता है, और, इस उपासना की बदौलत, आध्यात्मिक जगत् को प्राप्त होता है, और वहां आत्मोन्नति का अनुभव करके

पुनः मनुष्य देह पाता है। लेकिन जो ओम के तीसरे वर्ण म का, अर्थात् ईश्वर के स्वरूप का चिन्तन करता है वह दिव्य ज्ञान से उद्भासित होकर मोक्ष को प्राप्त होजाता है। जिस प्रकार सांप अपनी पुरानी खाल को फेंक कर पुनः नया होजाता है,इसी प्रकार तीसरी मात्रा की उपासना करने वाला योगी अपने नश्वर शरीर को छोड़कर, अपने पापों और ऐहिक निर्बलताओं से मुक्त होकर, परब्रह्म के ब्रह्माण्ड में अपने सूक्ष्म शरीर के साथ सब कहीं स्वतन्त्र विचरता हुआ सर्वव्यापक,सर्वशक्तिमान् परमात्मा की महिमा का नित्य आनन्द लूटता है।

सिंहावलोकन। ओम् की तीन मात्राओं का ठीक तौर पर यथाक्रम चिन्तन करने से उपासक इस संसार के दुःखों से छूट जाता है। प्रथम मात्रा के चिन्तन से उसे अस्तित्व की सब से उन्नत अवस्था, जो इस जगत् में संभव होसकती है, मिलती है; दूसरी का चिन्तन उसे आध्यात्मिक जगत् के आनन्दों से भर देता है, और अन्तिम मात्रा के ध्यान से उसे मोक्ष अर्थात् अमरत्व प्राप्त होता है। ओम् शम्।